* श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः *

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल वंचनकर ॥

वर्ष १० | गौराब्द ४७९, मास—विष्णु २७, वार—प्रद्युम्न
मंगलवार, ३० चैत्र, सम्वत् २०२२, १३ अप्रैल १९६५ | संख्या १०-११

श्रीभगवन्नामाष्टकम्

[श्रीमद्रूप-गोस्वामी-विरचितम्]

अनुवादक—श्रीवनमालीदासजी महाराज

निखिलश्रुतिमौलिरत्नमाला-द्युतिनीराजितपादपङ्कजान्त ।
अयि मुक्तकुलैरुपास्यमानं परितस्त्वां हरिनाम ! संश्रयामि ॥१॥

हे हरिनाम ! मैं आपका सर्वतोभावसे आश्रय ग्रहण करता हूँ; क्योंकि आपका महत्व विचित्र है । देखो, समस्त श्रुतियोंकी मुकुटमणि रूप उपनिषद्रूप रत्नोंकी माला की चमचमाती हुई कान्तिके द्वारा आपके चरणकमलोंके अन्त भागकी अर्थात् नखोंकी आरती उतारी जाती है और मुक्त मुनिगण भी आपकी उपासना करते रहते हैं । तात्पर्य—सर्वोपनिषदोंके पुरुषार्थ रूपसे प्रतिपाद्य एवं मुक्त मुनिकुल सेव्य आप ही हैं ॥१॥

ननु दुरिताक्रान्ताय ते कथं संश्रयं दास्यामि तत्राह—

जय नामधेय ! मुनिवृन्दगेय ! हे, जनरञ्जनाय परमक्षराकृते ।
त्वमनादरादपि मनागुदीरितं, निखिलोग्रतापपटलीं विलुम्पसि ॥२॥

यदि कहें कि पापोंसे आक्रान्त तेरे-जैसेको कैसे अपना आश्रय दे दूँगा, तब कहते हैं—हे मुनिगणोंके द्वारा गायन करने योग्य एवं भक्तोंके अनुरञ्जनके लिये ही अक्षरोंकी आकृति धारण करने वाले हरिनाम ! आपकी जय हो ! अर्थात् आपका उत्कर्ष सदैव विद्यमान रहे, अथवा अपने उत्कर्षको प्रकट करें। प्रभो ! वह उत्कर्ष यह है कि आप तो अनादर पूर्वक —अर्थात् सांकेत्य-परिहास आदिके रूपमें किंचित उच्चरित होनेपर भी लिंगदेह पर्यन्त समस्त भयंकर पाप समूहको समूल नष्ट कर देते हैं। अतः मुझे भी अपनी शरणागति अवश्य प्रदान करेंगे ॥२॥

न च नामाभासः पापान्येव दग्ध्वा निवर्तते अपितु स्ववाच्ये भक्तिं च प्रकाशयतीत्याह—

यदाभासोऽप्युद्यन्कवलितभवध्वान्तविभवो, दृशं तत्त्वान्धानामपि दिशति भक्तिप्रणयिनीम् ।
जनस्तस्योदात्तं जगति भगवन्नामतरणे, कृती ते निर्वक्तुं क इह महिमानं प्रभवति ॥३॥

नामाभास केवल पापोंको ही जला कर निवृत्त नहीं होता, अपितु अपने वाच्य श्रीराम-कृष्ण आदि स्वरूपमें भक्तिको भी प्रकाशित करता है, यह कहते हैं—हे भगवन्नाम रूप सूर्य ! इस संसारमें कौन प्रवीण पण्डितजन आपकी असमोर्ध्व महिमाको यथार्थ रूपेण कहनेमें समर्थ है ? अर्थात् कोई भी नहीं; क्योंकि आपका आभासमात्र भी प्रकट होकर संसारके अज्ञान रूप अन्धकारके वैभवको कवलित (ग्रास) कर लेता है और तत्त्वदृष्टिसे विहीन जनोंके लिए श्रीहरिभक्ति देनेवाली दृष्टि प्रदान करता है ॥३॥

अथैकान्तिक भावेनोपासितं नाम भोगैकविनाश्यमपि प्रारब्धं विनैव भोगाद्विनाशयतीत्याह—

यद् ब्रह्म साक्षात्कृतिनिष्ठयापि, विनाशमायाति विना न भोगैः ।
अर्पति नामस्फुरणेन तत्ते, प्रारब्धकर्मेति विरौति वेदः ॥४॥

अब निष्ठापूर्वक जपा हुआ नाम—भोगके द्वारा ही विनाश्य प्रारब्ध कर्मको भोगके बिना ही नष्ट कर देता है। इसी भावको कहते हैं—हे नाम भगवन् ! जो प्रारब्ध कर्म भोगोंके बिना ब्रह्मकी अविच्छिन्न तैल धारावत की गयी साक्षात्कारकी निष्ठाके द्वारा भी विनष्ट नहीं हो पाता, वह प्रारब्ध-कर्म आपकी स्फूर्ति मात्रसे अर्थात् भक्तोंकी जिह्वा पर स्फुरण होने मात्रसे दूर भाग जाता है, इस बातको वेद उच्चस्वरसे कहता है। अर्थात् ब्रह्म विद्याके साक्षात्कारसे संचित एवं क्रियमाण कर्मोंका नाश तो हो जाता है; किन्तु फल देनेके लिए प्रवृत्त पुण्य-पापरूप प्रारब्ध-कर्मका नाश तो भोगसे ही होता है, ब्रह्मविद्यासे नहीं। परन्तु वह प्रारब्ध कर्म भी नामोच्चारण मात्रसे विनष्ट हो जाता है, इसमें वेद प्रमाण है। यथा—(स एव सर्वेभ्यः पाप्मभ्य

उदितः, उदेति ह वै सर्वपाप्मभ्यो य एवं वेद उदिति तस्य नाम) वह सब पापोंसे छूट गया और वह जन ही सब पापोंसे छुटकारा पाता है, जो भगवान्‌के 'उत्' ऐसे नामको जानता है ॥४॥

भक्तेभ्यो विचित्रानन्दान्प्रदातुं बहुरूपतयाविर्भावादतिकरुणमिदं नामेतिभावेनाह—

अघदमन-यशोदानन्दनौ नन्दसूनो, कमलनयन-गोपीचन्द्र-वृन्दावनेन्द्राः ।
प्रणतकरुण-कृष्णावित्यनेकस्वरूपे, त्वयि मम रतिरुच्चैर्वर्धतां नामधेय ! ॥५॥

अब भक्तोंको विचित्र आनन्द देनेके लिये अनेक रूपसे प्रकट होनेके कारण यह नाम-भगवान् विशेष दयालु है, इस भावसे कहते हैं—हे नाम भगवन् ! पूर्वोक्त रूपसे अतर्क्य महिमा वाले आपमें मेरी प्रीति दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती रहे । आपके अनेक स्वरूप इस प्रकारके हैं—'हे अघदमन ! हे यशोदा-नन्दन ! हे नन्दसूनो ! हे कमलनयन ! हे गोपीचन्द्र ! हे वृन्दावनेन्द्र ! हे प्रणतकरुण ! हे कृष्ण !' इत्यादि ॥५॥

अतिकरुणत्वं ते स्फुटमस्ति, अतस्त्वामेव संश्रयामीति भावेनाह—

वाच्यं वाचकमित्युदेति भवतो नाम स्वरूपद्वयं पूर्वस्मात्परमेव हन्त करुणं तत्रापि जानीमहे ।
यस्तस्मिन् विहितापराधनिवहः प्राणी समन्ताद्भवे-दास्येनैवमुपास्य सोऽपि हि सदानन्दाम्बुधौ मज्जति ॥६॥

आपकी अतिशय दयालुता प्रसिद्ध है; अतः आपका ही आश्रय लेता हूँ—इस भावसे कहते हैं—हे नाम ! आपके वाच्य एवं वाचक रूपसे दो स्वरूप संसारमें प्रकट होते हैं, अर्थात् "वाच्य" शब्दसे सच्चिदानन्द विग्रहवाले कृष्ण लिये जाते हैं और "वाचक" शब्दसे श्रीकृष्ण, गोविन्द इत्यादि वर्णसमूहरूप नाम कहलाते हैं । इन दोनोंके मध्यमें पहले—वाच्यकी अपेक्षा दूसरे—वाचक श्रीकृष्ण आदि नाम-स्वरूप वाले आपको हम अधिक दयालु जानते हैं; क्योंकि जो प्राणी आपके वाच्य स्वरूपके प्रति अनेक अपराध कर चुका है, वह भी वाचकस्वरूप आपकी जिह्वा के स्पर्शमात्रसे उपासना करके सदैव आनन्द-समुद्रमें गोता लगाता रहता है ॥६॥

ननु द्वात्रिंशत्सेवापराधा नाम्ना विनश्येयुर्नामापराधाः साधुनिन्दादयो दश केन ? तेऽपि नाम्नैवेत्याह—

सुदिताश्रितजनातिराशये रम्यचिद्घनसुख स्वरूपिणे ।
नाम गोकुलमहोत्सवाय ते कृष्ण पूर्णवपुषे नमो नमः ॥७॥

बत्तीस सेवापराध तो नामके द्वारा नष्ट हो सकते हैं, परन्तु साधुनिन्दा आदि दश नामापराध किससे नष्ट होंगे—इसके उत्तरमें वे भी नामके द्वारा ही नष्ट होंगे, इस भावसे कहते हैं —'हे आश्रित जनोंके

पीड़ासमूहको नष्ट करनेवाले, रमणीय सच्चिदानन्द स्वरूपवाले, गोकुलके महोत्सव-स्वरूप एवं व्यापक स्वरूपवाले हे कृष्णनाम ! पूर्वोक्त गुण विशिष्ट आपके प्रति बारम्बार नमस्कार है।' यहाँ पर पीड़ासमूहसे सभी अपराधोंका ग्रहण है, अर्थात् नामापराधीकी नामापराधरूप सब पीड़ाओंको नाम ही नष्ट करते हैं, यह स्मृतियों में वर्णित है—नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघमित्यादि ॥७॥

अथ नाम्नः स्वस्मिन् स्फूर्तिं प्रार्थयते—

नारदवीणोज्जीवन सुधोर्मिनिर्यास माधुरीपूर ।
त्वं कृष्णनाम ! कामं स्फुर मे रसने रसेन सदा ॥८॥

हे नारदकी वीणाको सचेत करनेवाले, हे अमृतमय तरङ्गोंके सार ! हे मधुरताके समूह ! हे कृष्ण-नाम ! आप मेरी जिह्वापर स्वेच्छापूर्वक रसयुक्त होकर सदैव स्फुर्ति पाते रहें। इस प्रकारकी प्रार्थना पञ्चम स्कन्धमें भी है। नामकी कृपाके बिना जिह्वा नाम लेनेमें समर्थ नहीं है—यही तात्पर्यार्थ है ॥८॥

श्रीमध्वमुनि चरित

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ९, संख्या९, पृष्ठ १९१ से आगे]

श्रीमध्वाचार्य वैकुण्ठ-वायुके अवतार हैं

आदित्यपुराण नामक उपपुराणके ४० वें अध्यायमें किसी वैष्णव-विरोधी निर्विशेषवादीने अपनी अज्ञता एवं ओछेपनका परिचय देते हुए श्रीमध्वाचार्यके सम्बन्धमें एक भ्रान्त चित्रको प्रतिफलित कर अपने घृणित स्वार्थकी पुष्टि की है। उन्होंने श्रीमन्मध्वाचार्यको ऋतुराज वसन्तका अवतार बतलाया है। परन्तु यह उनकी निराधार एवं कोरी कल्पना ही है।

श्रीब्रह्मवैवर्त्त पुराणके श्रीकृष्ण जन्मखण्ड, चौथे अध्यायके अनुसार वैकुण्ठधाम एवं गोलोक धाम—ये दोनोंधाम ही वायु द्वारा धारण किये गये हैं। जिस प्रकार देवी धाममें वायु मरुताख्य देवताके रूपमें प्रसिद्ध हैं, ये देवीधामको धारण किये हुए हैं, उसी प्रकार वैकुण्ठमें भी अप्राकृत मरुत्देव वैकुण्ठ धारणकी सेवामें सदा-सर्वदा नियुक्त हैं। परन्तु यह सर्वदा स्मरण रखना होगा कि जड़ जगतके वायु या देवलोकके मरुत्देव और वैकुण्ठ जगतको धारण करने वाले अप्राकृत वायुदेव एक नहीं हैं। वैकुंठीय वायु-देवता से जड़ीय-वायुदेवताकी किसी प्रकार तुलना या समनता नहीं हो सकती।

वैकुण्ठं परमं धाम जरा मृत्युहरं परं ।
वायुना धार्यमाणाञ्च ब्रह्माण्डाद्ध्वमूत्तमम् ॥
न वर्णनीयं कविभिर्विचित्रं रत्ननिर्मितम् ॥

गोलोकके प्रसंगमें "ऊर्द्ध वैकुंठतोऽगम्यं", एवं "वायुना धार्यमाणञ्च निर्मितं स्वेच्छया विभोः' आदि ब्रह्म-वैवर्तके वचनोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि वायुदेव श्रीनारायणके वैकुंठधामको धारण करनेकी सेवामें नित्यकाल नियुक्त रहते हैं । श्रीमध्वाचार्यके अनुगतजन श्रीमध्वाचार्यको वायुका अवतार मानते हैं । अतएव श्रीमध्वको प्राणनाथकी संज्ञा दी गयी है ।

देवताओंकी प्रार्थनासे श्रीनारायणकी आज्ञासे वायुदेवका मध्वाचार्यके रूपमें आविर्भाव

जिस समय दक्षिण भारतमें जैन, शैव और शङ्कर मतावलम्बीगण भागवत सम्प्रदायका जोरदार खंडन कर रहे थे, उस समय ब्रह्मा आदि प्रधान-प्रधान देवताओंने उनका उपद्रव देखकर वहाँके लोगोंके कल्याणके लिये श्रीनारायणके पास जाकर प्रार्थना की । उनकी प्रार्थनासे श्रीमन्नारायणने वैकुंठ को धारण करनेवाले प्राणनाथ वायुदेवको दक्षिण भारतके तुलुव प्रदेशमें आविर्भूत होनेके लिये आदेश दिया । अपने प्रभुके आदेशसे वे वैकुंठीय वायुदेव ही वहाँ श्रीमध्वकेरूपमें आविर्भूत हुए ।

व्यासानुचर मध्व ही द्वापरमें भीम और त्रेतामें हनुमान हैं

त्रेतायुगमें वैकुंठाधिपति श्रीरामचन्द्रके अवतीर्ण होने पर वैकुंठको धारण करनेवाले मरुद्देवने हनुमानके रूपमें आविर्भूत होकर श्रीरामचन्द्रकी सेवा की थी, मरुद्देवने द्वापरमें द्वारकाधीश श्रीकृष्ण की सेवाके लिये भक्तप्रवर भीमके रूपमें जन्म ग्रहण किया था । पुनः उन मरुद्देवने ही कलियुगमें श्री-विष्णुके आवेशावतार श्रीव्यासदेवके अनुचर श्रीमध्व के रूपमें प्रकट होकर उनकी मनोभीष्ट सेवा की है ।

श्रीमध्वाचार्यके अभ्युदयकालके सम्बन्धमें विभिन्न मतवाद

श्रीमध्वाचार्यके अभ्युदयकालके सम्बन्धमें विभिन्न गवेषकोंके प्रधान-प्रधान छः मूल प्रमाणोंको सर्व प्रथम उद्धृत कर रहे हैं—

(१) श्रीभण्डारकर और श्रीपद्मनाभाचार्यका मत—

प्राचीन मठ-तालिकाको जिसे श्रीभण्डारकरने देखा था और वायु पुराणको प्रमाण मान कर यह मत प्रवर्त्तित है । भण्डाकरका कथन यह है कि प्राचीन मठ तालिकामें बार्हस्पत्य-वर्षका उल्लेख है । उसमें शक आदिका कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता । क्रमिक रूपमें मठ तालिकाकी गणना द्वारा अनुमानसे शक-वर्षआदिका निरूपण किया गया है ।

अदमार मठके मठाध्यक्ष महोदयके सामने श्री-पद्मनाभाचार्यने कुछ दिन पूर्व उड़पीके प्रधान-प्रधान सभी पण्डितोंको बुलाकर वायु पुराण और दूसरे-दूसरे प्रमाणकोटिके उद्धत श्लोकोंको दिखलाकर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि विलम्बी वर्षमें श्रीमध्वाचार्य का जन्म हुआ था । वायु पुराणके श्लोकका अर्थ यह है—माघी शुक्ला सप्तमी विलम्बी वर्षमें आचार्यका जन्म हुआ था । इसके अतिरिक्त दूसरे श्लोकके अनुसार विलम्बी वर्षकी विजयादशमीको उनकी आविर्भाव तिथि है ।

(२) सत्कथा नामक ग्रन्थका मत—

उड़पीके आठों मठाध्यक्षोंकी तथा उत्तराढ़ी मूल मठके तीर्थस्वामी महोदयकी मठ तालिकासे

सम्बन्धित यह मत है। सत्कथा कनाड़ी भाषाका ग्रन्थ है। इसके लेखक हैं—भीम राव स्वामी राव। यह धारवाड़के प्रसाद राघव यन्त्रसे मुद्रित हुई है। उस तालिकामें श्रीमध्वका अभ्युदयकाल बिलम्बी वर्षमें १०४० शकाब्द उल्लिखित है। श्रीमाध्व पण्डितगण इस तालिकाका अत्यन्त सम्मान करते हैं। इसके प्रति किसीने कभी कोई सन्देह नहीं किया है।

(३) मध्व-रचित महाभारत-तात्पर्य-निर्णय-ग्रन्थ का मत—

श्रीमध्वाचार्यने स्वरचित महाभारत तात्पर्य-निर्णय-ग्रन्थमें कालके विषयमें दो स्थलोंमें उल्लेख किया है—

प्रायशो राक्षसाश्चैव त्वयि कृष्णत्वमागते।
शेषा यास्यन्ति तच्छेषा अष्टाविंशे कलौयुगे।
गते चतुःसहस्राब्दे तमोगाब्धिशतोत्तरे ॥१००॥
(ता० नि० ६म अध्याय)

चतुःसहस्रे त्रिशतोत्तरे गते सम्वत्सराणान्तु कलौ पृथिव्यां।
जातः पुनर्विप्रतनुः स भीमो वैर्त्यनिगूढं हरितस्त्वमाह ॥१३१॥
(ता० नि० ३२ अध्याय)

महाभारत-तात्पर्य-निर्णय ग्रन्थसे जो उपरोक्त दो काल-सम्बन्धी श्लोक उद्धृत किये गये हैं, उनसे श्रीमध्वमुनिने अपना उदयकाल ४३०० कल्याब्द बीतने पर अर्थात् ४४ वें कल्याब्दके अन्तर्गत निरूपण किया है। शताब्दीके ठीक प्रारम्भमें ही उनका उदयकाल है या कब है—इसका कोई सठीक निर्देश नहीं है। बिलम्बी वर्षमें उनका जन्म हुआ था—इसका उल्लेख, भण्डारकर द्वारा देखे गये पूर्व मठ तालिकामें है। पुनः ऐसा देखा जाता है कि परमठ तालिकामें निरूपित शक और स्मृत्यर्थसागरमें उल्लिखित शक परस्पर भिन्न होने पर भी दोनोंको बिलम्बी वर्षको आश्रय पूर्वक शक वर्षमें परिणत किया गया है। दक्षिण भारतमें प्राचीनकालमें बार्हस्पत्य वर्षका प्रचुर प्रचलन था। पीछे क्रमशः शकादि लिखनेका प्रचलन हुआ है। अतः ४३०० कल्याब्दको शकाब्दमें बदल करके ही श्रीकृष्ण स्वामी ऐयरने ११२१ शकाब्दमें अर्थात् ४३०० कल्याब्दमें श्रीमध्वाचार्यका आविर्भाव काल स्थिर किया है। उसी प्रकार दक्षिण कैनरा-जिला-मैनुयल नामक ग्रन्थमें भी ११२१ शकाब्द अर्थात् ४३०० कल्याब्दमें उनका आविर्भावकाल निर्धारित हुआ है। डा० बुकाननने भी सन् १७९९ ई० अर्थात् १७२१ शकाब्दमें मैसूर, कानाड़ा और मालावार राज्योंके विभिन्न स्थानोंमें भ्रमण करके उडूपीमें पण्डित मण्डलीको बुला कर आचार्यका जन्मकाल ११२१ शकाब्द निर्द्धारित किया है। बुकाननका इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा ठोस या मूल प्रमाण नहीं है।

(४) श्रीगोपीनाथ राव और उद्धवाचार्यका मत—

श्रीमच्छलारी स्मृतिसे श्रीगोपीनाथ रावने स्वरचित ग्रन्थ—"दक्षिणपथमें श्रीवैष्णवधर्मकी लघु इतिवृत्तिके द्वितीय गवेषणा खण्डमें श्रीमध्वके उदयकालको सूचित करनेवाले निम्नलिखित दो श्लोकोंको उद्धृत किया है—

कलौ प्रवृत्ते बौद्धादि मतं रामानुजं तथा।
शके ह्यकोनपञ्चाशदधिकाब्दे सहस्रके ॥
निराकर्तुं मुख्यवायुः सम्मतस्थापनाय च।
एकादशशते शाके विंशत्यष्ट युगे गते ॥

कृष्णानदीके तट पर बसे बाईक्षेत्रके निवासी बालाचार्यके पुत्र उद्धवाचार्यने श्रीमत् पूर्णप्रज्ञके रचित

'सर्वमूल' नामक ग्रन्थकी भूमिकामें इस प्रकार लिखा है—

"उत्पन्नाम्नायं पुनर्निरूपयितुं रौप्यपीठे सुपीठे मध्यगेह सुगेहे आविरास भगवान् दक्षशततमशकशत के श्रीमत् पूर्णप्रज्ञः। सुप्रज्ञः उत्तमेतच्छलारि नृसिंहाचार्यकृत स्मृत्यर्थसागरे।" नृसिंहाचार्यके मतानुसार मध्वाचार्यका आविर्भावकाल ११०० शकाब्दीमें है।

(५) प्रस्तर-फलक और अध्यापक किलहर्नका मत—

श्रीनरहरि तीर्थके द्वारा स्थापित तीन शिला लेखों का आर्कियलजिकल विभागद्वारा जिस प्रकारसे अर्थ संग्रहीत हुआ है, उससे ऐसा अवगत हुआ जाता है कि ११८६ शकाब्द से १२१५ शताब्द तक उक्त तीर्थस्वामी कलिंग राज्यके शिशु राजाके अभिभावक रह कर नाना प्रकारसे राज्यकी उन्नति करके विशेष रूपसे प्रख्यात हुए थे। पुरुषोत्तम तीर्थके संन्यासी शिष्य—आनन्दतीर्थके निकट नरहरि तीर्थ दीक्षित हुए थे। आनन्द तीर्थने व्यासके विपथगामी अनुचरों को दण्डद्वारा सुपथ पर लौटाया था। आनन्द तीर्थ-की वाणियोंका पालन करनेसे जीव श्रीहरिके श्रीचरण कमलोंको प्राप्त करते हैं। आनन्द तीर्थकी वाणियाँ विष्णुको अत्यन्त प्रिय हैं और उनके चरणकमलोंको प्रदान करनेमें समर्थ हैं। यह शिलालिपि १२०३ शकाब्दमें खोदी गयी थी। अध्यापक किलहर्नने इस शिलालिपिकी तारीख २६ मार्च, १२८१ ई० निर्द्धारित की है। कूर्म्माचल चिकाकोल और सिंहाचलके नृसिंह-मन्दिरसे प्राप्त दो शिलालेखोंके द्वारा भी उन स्थानोंमें श्रीनरहरि तीर्थके स्थितिकालका पता चलता है।

(६) विद्यारण्य भारतीने १२६८ शकाब्दमें विजय-नगरके राजासे अपने शृङ्गागिरि मठके लिये भूसम्पत्ति प्राप्त की थी। वे श्रीमध्वके चतुर्थ शिष्य अक्षोभ्य तीर्थके समसामयिक थे।

असिना तत्तमसिना परजीवप्रभेदिना।
विद्यारण्यमरण्यानीमक्षोभ्य मुनिरच्छिनत्॥

इसके अतिरिक्त वेदान्त देशिकाचार्य १३ वीं शक शताब्दीमें जीवित थे तथा वे विजयनगरके राजाके अनुरोधसे विद्यारण्य और अक्षोभ्यतीर्थ बीच होने वाले शास्त्रार्थके मीमांसक भी बने थे। वेदान्तदेशिक द्वारा रचित "वैभव प्रकाशिका" नामक ग्रन्थमें इस घटनाका उल्लेख है। 'जय-तीर्थ विजय' नामक ग्रन्थ में जयतीर्थके साथ विद्यारण्य तीर्थकी भेंट होनेका उल्लेख है। विद्यारण्यने अपने ग्रन्थमें जयतीर्थके भाष्यका उद्धार करके उसपर विचार किया है। इससे पता चलता है कि विद्यारण्य, जयतीर्थ, अक्षोभ्य और वेदान्त देशिक समकालीन व्यक्ति हैं।

उल्लिखित छः मतोंका हार

उपर्युक्त प्रमाणोंसे संक्षेपमें हम यह समझते हैं कि मध्वाचार्यकी विभिन्न जन्म तिथियाँ ये हैं—

(१) शकाब्द १०४०, ११०० या ११६० विलम्बी वर्षमें।

(२) १०४० शकाब्द।

(३) ११२१ शकाब्दके पश्चात् किसी वर्षमें।

(४) ११०० शकाब्दमें।

(५) नरहरि तीर्थने १३०३ शकाब्दसे पूर्व मध्वके समीप संन्यास ग्रहण किया था और १२१५ शकाब्दके पश्चात् पीठाधीश बने थे। तीन शिललेख इसके प्रमाण हैं।

(६) विभिन्न काल-तालिकाओंसे ऐसा पता चलता है कि विद्यारण्य, मध्वशिष्य अक्षोभ्य और वेदान्त देशिक—ये तीनों १३वीं शकाब्दीके मध्यभागमें विद्यमान थे।

उपरोक्त मतवादियोंमें परस्पर विरोध

इतिहास प्रमाण हैं; इस प्रमाणके अन्तर्गत उपरोक्त मतोंमेंसे कौनसा मत ग्रहण किया जाय, इस विषयमें एक शुद्ध मीमांसा करनेकी आवश्यकता है। इन प्रमाणों पर विचार करने पर हम देख पाते हैं कि—

पहला प्रमाण—दूसरेसे छठे प्रमाणसमूह परस्पर विरुद्ध होने पर भी ये सभी पहले प्रमाणकी पुष्टि करते हैं। पहले प्रमाणके साथ अन्य प्रमाणोंका विरोध नहीं है।

दूसरा प्रमाण—इसे स्वीकार करनेसे यद्यपि पहले प्रमाणके साथ इसका विरोध नहीं देखा जाता, तथापि तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे प्रमाणोंसे इसका विरोध पड़ता है। इसलिये तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे प्रमाणोंको छोड़ देना पड़ता है।

तीसरा प्रमाण—इसे शुद्ध प्रमाण माननेसे तीसरे और चौथे प्रमाणोंको त्याग करना पड़ता है।

चौथा प्रमाण—इसे स्वीकार करनेसे पहले प्रमाणके साथ इसका विरोध नहीं होने पर भी दूसरे, तीसरे, पाँचवे और छठे प्रमाणोंको विरोधी होनेके कारण छोड़ना पड़ता है।

पाँचवाँ प्रमाण—इसे शुद्ध प्रमाण माननेसे दूसरे और चौथेको छोड़कर शेष पहले, तीसरे और छठे प्रमाणोंके साथ विरोध नहीं होता।

छठा प्रमाण—इसे शुद्ध प्रमाण स्वीकार करनेसे पहले, तीसरे और पाँचवें प्रमाणोंसे विरोध नहीं पड़ता, परन्तु दूसरे और चौथे प्रमाणोंकी सत्यता नहीं रहती।

सभी मतोंकी समालोचना

अब यहाँ यह पर्यालोचनाकी आवश्यकता है कि उपर्युक्त प्रमाणोंमेंसे कौन सा प्रमाण किस प्रमाणका कितना विरोधी है?

श्रीमध्वाचार्यके स्वरचित ग्रन्थोंमें, शिलालिपियों में या इतिहासमें प्रथम प्रमाणमें कहे गये बिलम्बी वर्षका कोई उल्लेख नहीं है।

पूर्वमठ तालिकामें 'शक' का उल्लेख नहीं रहनेसे, 'स्मृत्यर्थ सागर' नामक प्रसिद्ध स्मृतिलिखित शकसे भिन्न होनेके कारण, श्रीमध्वद्वारा लिखित कालसे भिन्न होनेके कारण, शिला-लिपियोंका मिथ्यात्व सिद्ध न होनेके कारण एवं ऐतिह्यके विरुद्ध होनेके कारण इन पाँचोंके विरुद्धमें १०४० शकाब्दमें उनका जन्म निर्द्धारित नहीं हो सकता।

मध्वलिखित तात्पर्य-निर्णय ग्रन्थमें काल विषयक दोनों श्लोकोंके प्रक्षिप्त होनेकी संभावना रहनेसे, अथवा उनका अर्थान्तर (दूसरा अर्थ) होनेकी संभावनासे ४३०० कल्याब्द लोक-प्रचलित विलम्बी वर्ष नहीं होनेसे या लेखक की कालके विषयमें सूक्ष्म ज्ञानकी यथार्थोपलब्धि न होनेके कारण उसे प्रमाण के रूपमें ग्रहण नहीं किया जा सकता।

स्मृत्यार्थसागरके रचनाकालमें लोक-मुखसे बिलम्बी वर्षमें मध्वका जन्म होना सुनकर अनुमान से ११०० शकाब्दका विलम्बी वर्ष मध्वका जन्मकाल

निर्द्धारित हुआ होने पर, शिलालिपिका मिथ्यात्व सिद्ध न होनेके कारण, मध्वलिखित तात्पर्य-निर्णयके कालके साथ इसका विरोध पड़नेके कारण इतिहास के साथ सामञ्जस्यके अभावमें यह प्रमाण सत्य नहीं माना जा सकता।

पाँचवें प्रमाणके विरुद्धमें पीछेसे किसी व्यक्तिके द्वारा शिलालिपि रख-छोड़नेकी संभावना रहनेकी गुंजाइश रहनेके कारण, शिलालिपिमें अंकित भाषाके यथार्थ अर्थमें विपर्यय होनेकी संभावना रहनेसे शिलालिपि को निर्विवादरूपमें ध्रुव सत्य मान लेना उचित नहीं जान पड़ता।

ऐतिह्योंमें नाना प्रकारकी सापेक्षताके कारण उसमें नानाप्रकारके भ्रम प्रवेशकी संभावना होती है। ऐसी दशामें ऐतिह्यको ध्रुवसत्य प्रमाण नहीं मान जा सकता।

११६० शकाब्द ही मध्वाचार्यका जन्मकाल है

जैसा भी हो, प्रमाणोंको अविश्वास करनेकी विविध प्रकारकी युक्तियाँ हो सकती हैं, फिर भी निरपेक्ष भावसे प्रमाणोंकी आलोचना करनेपर यह सिद्ध होता है कि मध्वाचार्यने ११६० शकाब्दके विलम्बी वर्षमें ही जन्म ग्रहण किया था। यह जन्म-काल नयीमठ तालिका या स्मृत्यर्थसागरके विरोधी होनेपर भी दूसरे चारों प्रमाणोंके विरुद्ध नहीं है। पक्षान्तरमें १०४० और ११०० शक ये दोनों पक्ष श्रीमध्वाचार्यके अपनी ही लेखनीके विरुद्ध है। ११६० शकाब्दमें उनका जन्मकाल स्वीकार कर लेने पर चार प्रमाण अनुकूल हो पड़ते हैं। अथच १०४० या ११०० के पक्षमें पहले प्रमाण अर्थात् विलम्बी वर्ष को छोड़कर अन्यान्य दूसरे प्रमाण समूह निरपेक्ष हो जाते हैं अर्थात् उसका समर्थन नहीं करते। ११६० शक विलम्बी वर्ष हैं। मध्व लिखित ११२१ शकाब्दके पश्चात् ११६० शकाब्द पड़ता है। ११६० शकमें पैदा हुए व्यक्तिका १२०३ शकके पूर्व नरहरि तीर्थको संन्यास देनेमें कोई आपत्ति नहीं, ११६० शकमें उत्पन्न व्यक्तिके निकट संन्यास ग्रहण करने वाले अक्षोभ्यतीर्थका विद्यारण्य और वेदान्त देशिक के समकालीन होना अयुक्तिसंगत नहीं। इतिहास और शिलालिपिके अभावमें पूर्व-पूर्व विलम्बी वर्ष के ऊपर निर्भर करना भी स्वाभाविक है। वे भी इन दोनोंकी सहायता पाने पर ११६० शकाब्दको ही सर्वसम्मतिसे श्रीमध्वका आविर्भावकाल निर्द्धारित कर सकते थे।

—श्रील प्रभुपाद

———

श्रद्धा

अनन्त कालसे अनन्त जीव माया-मोहित होकर इस संसारमेंभटक रहे हैं। जीव स्वरूपतः कृष्णदास है; इस स्वरूपगत कृष्णदास्यको विस्मृत होकर भोग-वांच्छाके वशीभूत होनेके कारण ही जीव संसार दशामें मायाका दास हो पड़ा है । श्रीचैतन्य महाप्रभुजी कहते हैं—

"जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास ।
कृष्ण भूलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख ।
अतएव माया तारे देय संसार दुःख ॥
(चैतन्यचरितामृत म० २०।११७)

मायाबद्ध जीव इस संसारमें फँसकर अशेष क्लेश भोग रहा है, सुख प्राप्तिकी आशामें मत्त होकर चारों ओर भाग-दौड़ रहा है । कोई एक अभिलषित वस्तुको प्राप्त कर ऐसा समझता है कि—अहो, कितने कष्टसे, कितने परिश्रमसे यह वस्तु मिली है, इसके मिलनेसे अब हमें बड़ा सुख मिलेगा।' परन्तु कुछ ही समयमें उनका यह भ्रम दूर हो जाता है। तब वह यह सोचने लगता है कि 'अरे! इसमें जैसा कि मैंने पहले समझा था, वैसा तनिक भी कोई सुख नहीं है। परन्तु यदि वह अमुक वस्तु मिल जाय, तो निश्चय ही सुख मिलेगा।' वह अमुक वस्तु भी मिली; परन्तु सुख न मिला, आशा न मिटी तथा प्राण शीतल नहीं हुए । काम-क्रोध-लोभ-मद मोह-मात्सर्य आदि रिपुओंके किंकर होकर सर्वदा उनकी दुलत्तियाँ खाते-खाते भी होश नहीं आता, उन्हें छोड़नेकी इच्छा नहीं होती, उनके दासत्वमें न जाने ऐसा क्या जादू है, न जाने क्या सुख है, जिसके लिये जीव इतना लालायित रहता है। धनी धनके गर्वसे दरिद्रकी ओर घृणासे देखता तक नहीं, बुद्धिमान व्यक्ति मूर्खोंकी बातें नहीं सुनता। अविद्या रूप विद्याका उपार्जन करके उसके अभिमानमें मत्त होकर कोई व्यर्थ ही इतरा रहा है, कोई उसे न पाकर दुःखसे मुह्यमान हो रहा है। चिन्मय राज्यका दिव्यरत्न जीव आज संसारकी धूलिमें धुसरित होकर मलिन हो रहा है। जिस समय श्रीभगवानके चरणकमलोंमें श्रद्धा रूपी निर्मल वारि-धारा द्वारा विषयासक्ति रूप धूल और कीचड़ धुल जायगी, तभी रत्नकी ज्योति—कृष्णभक्ति अपने आप निखर उठेगी । तभी चिन्मय रत्न चिन्मय धाममें चला जायगा। परन्तु कहाँ है वह श्रद्धावारि ?

संसारमें अशेष दुःखोंसे जर्जरित होने पर उससे छुटकारा पानेकी इच्छासे ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार करनेसे हो, अथवा साधुसंगके प्रभावसे संतोंके उपदेशोंसे हो, अथवा शास्त्रोंकी आलोचनासे उनका यथार्थ अर्थ विचार करनेसे हो या जिस किसी भी कारणसे क्यों न हो, जब जीवके मनमें यह दृढ़ विश्वास पैदा हो जाय कि—'ईश्वर महान् हैं, वे सर्वशक्तिमान हैं, जीव क्षुद्र और शक्तिहीन है। ईश्वर स्वाधीन है, जीव उनकी अचिन्त्य शक्तिके अधीन है; ईश्वर प्रभु हैं, जीव दीन-हीन और ईश्वरका दास है।' तब आनन्दमय ईश्वरको पाकर सारी यंत्रणाओंसे छुटकारा प्राप्त करनेके लिये अथवा सर्वाश्रय हरिके आश्रित होनेके लिये जीवकी स्वाभा-

विक रूपमें इच्छा पैदा होती है और उनको प्राप्त करनेके लिये थोड़ी बहुत चेष्टा भी साथ-ही-साथ प्रारम्भ हो जाती है। यही श्रद्धाकी प्रथम अवस्था है।

जीवका स्वभाव विकृत होने पर जीव जड़ाभ्यस्त हो पड़ा है। अतएव साधुसंगके अभावमें या कुसङ्गके प्रभावसे यह श्रद्धा सम्पूर्ण रूपसे आच्छादित हो सकती है। इसलिए उसी समयसे साधुसङ्ग करनेकी आवश्यकता है। साधुसङ्गद्वारा यह श्रद्धा क्रमशः अधिकाधिक रूपमें प्रकाशित होने लगती है। इस श्रद्धाकी वृद्धिके साथ-साथ जीवके हृदयमें ईश्वर-मिलनके लिये अधिकाधिक रूपमें व्याकुलता भी बढ़ने लगती है। ऐसी दशामें जीव—भगवानके चरणकमलोंको कैसे प्राप्त हुआ जाय—इसकी खोजमें प्राणपणसे तत्पर हो जाता है। तदनन्तर वह सबसे पहले यह देख पाता है कि—वह अनर्थोंसे भरा पड़ा है तथा उसका स्व-स्वभाव सुप्त है। ऐसा जानकर वह अनर्थोंसे सर्वथा मुक्त किसी जाग्रत-स्वभाववाले साधुके चरणोंमें आत्म समर्पणकर—उनका पदाश्रय ग्रहण कर एकनिष्ठ होकर भजन कार्यमें लग जाता है। श्रद्धाकी इस अवस्थाका नाम ही दृढ़ या निर्गुण उद्देशिनी श्रद्धा है। "यही श्रद्धा भक्तिलताका बीज है।" उस समय श्रद्धावान व्यक्तके हृदयका भाव कैसा होता है, उसे श्रीचैतन्य-चरितामृतकारने बड़े ही मर्म स्पर्शी शब्दोंमें व्यक्ति क्या है—

"श्रद्धा-शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़-निश्चय।
कृष्णभक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय॥"

श्रद्धालु जीवके मनमें ऐसा दृढ़ विश्वास हो जाता है कि—एकमात्र कृष्ण भक्ति ही जीवका स्वभाव है, श्रीकृष्णकी सेवाको छोड़कर जीवका कुछ भी और दूसरा कर्त्तव्य नहीं है। इसलिये श्रीकृष्णकी भक्ति करनेसे जीवके पालनीय समस्त कर्त्तव्योंका पालन करना हो जाता है। परन्तु मायाबद्ध होनेके कारण वर्तमान समयमें जीवका स्वभाव विकृत हो पड़ा है। इसलिये शुद्ध स्वभावके प्रकाशित न होने तक शरीर-यात्राका सुन्दर रूपसे निर्वाह करते हुए ही कृष्णानुशीलन (भगवद्भक्तिका अनुशीलन) करना श्रेयष्कर है। अतः श्रद्धालुजीव जो कुछ भक्तिके अनुकूल हो—केवल उसे ही ग्रहण करेंगे तथा भक्तिके प्रतिकूल जो कुछ भी हो, वह जीवके लिये कर्त्तव्य नहीं ऐसा है—जान कर उसे कदापि ग्रहण न करेंगे। श्रद्धालु जीवका कर्माधिकार समाप्त हो गया होता है। इसका कारण यह है कि साधारण कर्मोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ जो निष्काम कर्म हैं, उनका फल है—श्रद्धा; अर्थात् श्रद्धा निष्काम-कर्मसे भी श्रेष्ठ है। अतएव श्रद्धा जिस सौभाग्यवान जीवके हृदयमें उदित हो जाती है, वह कर्माधिकारको लाँघ गया होता है। श्रीकृष्ण उद्धवको कह रहे हैं—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
(भा० १२-२०।९)

जब तक कर्मफलके प्रति अनासक्ति नहीं होती, अथवा जबतक मेरी कथाके श्रवण और कीर्तनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तभी तक कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। पूर्वोक्त श्रद्धालु व्यक्तिकी कर्मफलमें आसक्ति नहीं होती, क्योंकि वे कृष्ण भक्तिके अतिरिक्त और कुछ भी प्रार्थना नहीं करते। उनके कानोंको हरिकथा बड़ी अच्छी भाती है—वे

हरिकथाके प्रति अनाशक्त नहीं हैं। वे "सर्वधर्मान् परित्यज्य"—समस्त धर्म-कर्मोंका तथा सब प्रकार की आशाओं और भरोषाओंका सम्पूर्ण रूपस त्याग कर एकमात्र भगवान्‌के शरणागत होकर,"दुःखेष्वनुद्विग्न मनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभय-क्रोध"—दुखोंकेप्राप्त होने पर भी उद्विग्न नहीं होते, सुखोंकी प्राप्तिमें निःस्पृह होते हैं, तथा अनुराग, भय और क्रोधसे रहित होकर, 'अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं-रूप उत्तमा भक्तिके आचरण करनेमें तत्पर रहते हैं। अतएव वे कर्मयोगियोंके धर्म-कर्मको पार कर ज्ञान योगियोंकी शुष्क युक्तियों एवं विचारोंकी अवहेला करके विशुद्ध भक्ति योग—प्रेमा भक्तिके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी प्राप्तिके लिये श्रद्धायोगमें अवस्थित होते हैं। क्योंकि श्रद्धालु व्यक्ति ही भक्तियोगका अधिकारी है-"श्रद्धावान् जन हय भक्ति अधिकारी।" और भक्तिद्वारा ही भगवान्‌का पूर्ण अनुभव होता है। ज्ञान द्वारा भगवान्‌की अंगकान्ति—ज्योति-ब्रह्मका अनुभव होता है तथा योगकेद्वारा भगवान्‌के एक अंश—परमात्माका अनुभव होता है अतः श्रद्धा जीवकी बड़ी ही अमूल्य नीधि है। श्रद्धालु साधक जबतक साधन-भक्ति-राज्यमें अवस्थित रहता है, तब तक यही श्रद्धा कृष्णानुशीलनके द्वारा क्रमोन्नतिकी अवस्थामें क्रमशः निष्ठा, रुचि, आसक्ति आदि नामोंको धारण करती है। क्रमानुसार जब भावका उदय होता है तब वही श्रद्धा 'निर्गुण श्रद्धा', 'राग' या 'रति' कहलाती है। यही रति प्रेम-मन्दिर में प्रवेश करनेके लिये द्वार-स्वरूप है।

श्रद्धालु जीव एकमात्र कृष्णभक्तिके लिये प्रार्थना करते हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ भी प्रार्थना नहीं करते। यदि उनके हृदयमें कहीं अतिशय सूक्ष्मरूपसे कोई दूसरी कामना रहे तो ऐसा समझना चाहिये कि उनकी श्रद्धा निर्गुण-उद्देशिनी नहीं हुई है। साधुसंग के प्रभावसे जबतक उनकी वह सूक्ष्मकामना नष्ट नहीं हो जाती, तबतक उनको भक्तिलाभ करने की आशा कम है। शुद्धभक्ति ही जीवकी सम्पत्ति है। है। उस भक्तिको प्राप्त करनेके लिये सर्व-प्रथम श्रद्धा की आवश्यकता है। बिना श्रद्धाके शुद्धभक्ति कदापि उदित नहीं हो सकती है।

—सज्जन तोषणी खण्ड ९, संख्या ५, पृष्ठ १३३-३६

—जगद्गुरु श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

कृष्ण-नाम

जेइ नाम सेई कृष्ण भज निष्ठा करि।
नामेर सहित आछेन आपनि श्रीहरि॥
कृष्ण नाम कृष्ण-स्वरूप दुइ त समान।
नाम, विग्रह, स्वरूप, तिन एक रूप॥
तिने भेद नाइ तिन चिदानन्दरूप।
देह-देही, नाम-नामी कृष्णे नाहि भेद॥
जीवेर धर्म नाम - देह - स्वरूप - विभेद॥

श्रीमद्भागवत में दास्यभाव

[वर्ष १०, संख्या ६, पृष्ठ १६१ से आगे]

शरणागत दासोंमें महाभागवत वृत्रासुरका नाम भी बड़े आदरके साथ लिया जाता है। इनका जीवन बड़ा ही विचित्र था। ये पहले शूरसेन देशमें चित्रकेतु नामके राजा थे, उनके पास अपार सम्पत्ति, विशाल वैभव सुखके सभी साधन थे। परन्तु पुत्र नहीं था। इससे वे सतत् चिन्तित रहते थे। एक समय लोकोंमें विचरण करते हुए महर्षि अङ्गिरा राजाके यहाँ पधारे। उन्होंने राज्यकी तथा परिवार की कुशलता पूछी। तब चित्रकेतुने कहा—भगवन्! मैं आपके आशीर्वादसे सर्व प्रकारसे प्रसन्न हूँ। लोकपाल भी जिस साम्राज्य सुखकी इच्छा करते हैं, वह मुझे प्राप्त है; परन्तु एक पुत्र नहीं है। इससे बड़ा ही दुःखी हूँ। आप अनुग्रहपूर्वक मुझे एक पुत्र दानकर घोर नरक एवं लोक-परलोकके सब दुःखोंसे मुझे बचावें।"

राजाकी प्रार्थना पर अङ्गिराने त्वष्टा देवताके योग्य चरु तैयार कर उससे त्वष्टाका यजन किया और चरुका अवशेष अन्न राजाकी बड़ी रानी कृतद्युतिको दिया और कहा कि इससे तुम्हारे पुत्र होगा जो हर्ष-शोकका देने वाला होगा। राजा इस बातको समझ नहीं सके। अङ्गिरा ऋषि वैसा कह कर वहाँसे चले गये। यज्ञावशेष खाने पर महारानी कृतद्युतिने महाराज चित्रकेतु द्वारा गर्भ धारण किया तथा यथा समय उनके गर्भसे एक सुन्दर पुत्रका जन्म हुआ। जिससे सारे राज्यमें आनन्द-समुद्र उमड़ पड़ा। परन्तु राजाकी दूसरी रानियोंके हृदयमें ईर्ष्या जनित परिताप बढ़ गया। वे भीतर-ही-भीतर जलने लगी। एक दिन उन्होंने समय देखकर राजकुमारको विष दे दिया, जिससे उसकी मृत्यु हो गई। इससे सारे परिवारमें शोक व्याप्त हो गया। सब लोग एकसाथ बड़े जोरोंसे विलाप करने लगे। उस समय अङ्गिरा नारद ऋषिके साथ फिर राजाके यहाँ स्थिति देखनेको पधारे और कहने लगे—

राजन्! जिसके लिए तुम इतना शोक कर रहे हो वह बालक, इस जन्म और पहलेके जन्मोंमें तुम्हारा कौन था? तुम इसके कौन थे? और अगले जन्मोंमें भी उसके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध होगा?

> यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन वालुकाः।
> संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः॥
> यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च।
> एवं भूतेषु भूतानि चोदितानीशमायया॥
>
> (श्रीमद्भा० ६।१५।३-४)

जैसे जलके वेगसे बालूके कण एक दूसरेसे जुड़ते और बिछुड़ते रहते हैं, वैसे ही काल वेगसे प्राणियों का मिलन और बिछुड़न होता रहता है। जो एक समय पिता पुत्रके रूपमें एक साथ मिलित हुए थे, वे ही मृत्युके पश्चात् दूसरोंके पुत्रादिक हो जाते हैं। जिससे यह तेरा पुत्र है और तू इसका पिता है, ऐसा कोई स्थिर नियम नहीं है। जैसे एक बीजमें से अनेकों बीज उत्पन्न होते हैं, कभी-कभी नहीं भी होते हैं और किसी समय होकर भी नष्ट

हो जाते हैं। उसी प्रकार जीवात्माका भौतिक शरीर पिता-मातासे उत्पन्न होता है, कभी उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है और कभी उत्पन्न नहीं भी होता। वास्तवमें जीव नित्य है, जन्म-मृत्युसे रहित अमर है, जो देही है, देह नहीं; देहके परिवर्तन या नाशसे जीवका परिवर्तन या नाश नहीं होता। अज्ञ व्यक्ति देहको ही मैं मानकर उसके लिये वृथा ही शोक करते हैं।

राजन्! हम, तुम और स्थावर जङ्गम आदि जो अभी वर्तमान हैं वे सब अपने जन्मसे पहले नहीं थे, और मृत्युके पश्चात् भी नहीं रहेंगे—इसी तरह वे सारे प्राणी अभी भी नहीं हैं। जन्म ने वालोंके लिये मृत्यु निश्चित है अनिवार्य है। इससे तू पुत्रका शोक मतकर। यह सब ईश्वरकी मायिक सृष्टि है। ऐसा प्रबोध करने पर अन्धकारमें डूबे हुए ग्राम्य-पशुके समान शोकाभिभूत राजाने शोकसे निर्मुक्त हो धैर्य धारण किया। फिर दोनों मुनियोंका परिचय पूछा तथा और भी ज्ञान प्रदान करनेका आग्रह किया। अङ्गिराने कहा—मैं ही पुत्र देने वाला अङ्गिरा हूँ और ये देवर्षि नारद हैं। मैं प्रथम तुम्हारे पास ज्ञान देनेके लिये ही आया था। परन्तु तुम्हारी संसारमें अत्यन्त आसक्ति देख तुम्हें पुत्र दिया। अब पुत्रवालोंको जैसा दुःख होता है, उसे तुमने अनुभव कर ही लिया।

अधुनां पुत्रिणां तापो भवतैवानुभूयते।
एवं दारा गृहा रायो विविधैश्वर्य सम्पदः॥
शब्दादयश्च विषयाश्चला राज्य विभूतयः।
मही राज्यं बलं कोशोभृत्यामात्याः सुहृज्जनाः॥
सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोक मोहभयार्तिदाः।
गन्धर्व नगर प्रख्याः स्वप्न माया मनोरथाः॥
(श्रीमद्भा० ६।१५।२१-२३)

—पुत्रवालोंको कैसा दुःख भोगना पड़ता है, इसका अनुभव तुम्हें हो गया। इसीके समान स्त्री, घर, धन, विविध प्रकारके ऐश्वर्य, सम्पत्ति भी दुःख-दायी हैं। शब्दादिकोंके विषय और राज्य सम्बन्धी विभूतियाँ भी स्थिर नहीं हैं। शूरसेन! पृथ्वी राज्य, सैन्य, कोष, भृत्य, आमात्य, सुहृद ये सबके सब शोक, मोह और भय देने वाले हैं। ये गन्धर्वनगर, स्वप्न और माया मनोरथके समान मिथ्या हैं। मनसे ही उत्पन्न होते हैं। एक क्षणके पश्चात् दूसरे क्षणमें नष्ट होनेके कारण सत्य भी नहीं हैं। ममताके सभी विषय दुःखदायी हैं और उनका मूल यह देह ही है।

इसके पश्चात् देवर्षि नारदने मृत पुत्रकी जीवात्मा से कहा—"देख, ये तेरे माता-पिता विकल हो रहे हैं। तुम इस शरीरमें आ जाओ और शेष आयु अपने सगे-सम्बन्धियोंके साथ रहकर व्यतीत करो। पिताके दिये हुए भोगोंको भोग और राज्यासन प्राप्त करो।" जीव कहने लगा—"मैं कर्मोंके अधीन होकर देवता, मनुष्य, पशु पक्षी आदि योनियोंमें भटक रहा हूँ। उनमेंसे किस जन्ममें ये मेरे माता-पिता हुए? विभिन्न जन्मोंमें सभी एक दूसरेके भाई-बन्धु, शत्रु, मित्र, मध्यस्थ, उदासीन और दोषी होते रहते हैं। किसीका सम्बन्ध स्थिर नहीं रहता। अतः ये आज मेरी मृत्यु पर मुझे पुत्र जानकर शोक करते हैं तो मुझे शत्रु जानकर मेरी मृत्यु पर हर्ष क्यों नहीं करते? वास्तवमें जीव जन्म मरणसे रहित, नित्य और सनातन पूर्ण-

चित् विभु भगवान्‌के अंश अणुचित् वस्तु हैं। भगवान्‌के विमुख होनेसे ही जीवको संसार दशा प्राप्त होती है। संसार दशासे मुक्त होकर स्वस्वरूपमें स्थित होकर भगवत्सेवाकी प्राप्ति जीवका परम प्रयोजन है।" ऐसा कहकर जीवात्मा उस शरीरको छोड़ कर चला गया। इससे चित्रकेतुको ज्ञान हुआ उसकी ममता दूर हुई, तदनन्तर देवर्षि नारदने उनको शोक, दुःख, भय, दूर करनेवाली मन्त्रविद्या प्रदान की—

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः संकर्षणाय च॥
नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये।
आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैत दृष्टये॥
(श्रीमद्भा० ६।१६।१८-१९)

—वासुदेव प्रद्युम्न अनिरुद्ध संकर्षण रूप भगवान् को हम ध्यान पूर्वक नमस्कार करते हैं। अनुभवरूप परमानन्द मूर्ति आत्माराम शान्त द्वैत-दृष्टिसे रहित हम आपको प्रणाम करते हैं।

विद्या प्रदानकर नारदने कहा—इस विद्याका सात दिन सात रात्रि तक अखण्ड चिन्तन करनेसे तुम्हें भगवान् शेषके दर्शन होंगे। चित्रकेतुने नारदके कथनानुसार विद्याकी साधना की और शेषके दर्शन किए। उनकी स्तुति कर उनसे विद्याधरोंका आधिपत्य प्राप्त किया। फिर भगवान्‌की भक्तिमें निरत रहने लगे। इस प्रकार कई वर्ष बीत गये। एक दिन विद्याधर चित्रकेतु विमानसे आकाशमें घूम रहे थे। उस समय उन्होंने देखा कि कैलाश पर्वत पर जगतगुरु शंकर अपनी गोदमें पार्वतीको लेकर बैठे हैं। शंकरजीके महत्वको न जानते हुए, अविवेकसे कहा—अहो! प्रायः प्राकृत पुरुष भी स्त्रियोंके साथ एकान्तमें सम्बन्ध करते हैं। परन्तु जगतगुरु धर्मके वक्ता, सभाके बीच स्त्रीको लेकर बैठे हैं। इस पर आशुतोष तो कुछ नहीं बोले, परन्तु पार्वतीजीने क्रोधमें आकर चित्रकेतुको आसुरी योनि प्राप्त करनेका श्राप दे दिया। चित्रकेतु श्राप सुनकर विमानसे उतर पड़े और सिर झुकाकर कहने लगे—माताजी! मैं आपका दिया हुआ श्राप स्वीकार करता हूँ। क्योंकि आपने मुझे जो श्राप दिया है, वह मेरे प्रारब्धसे ही मिला है। जीव अज्ञानसे मोहित होकर संसार चक्रमें घूमता है। दुःख-सुख प्राप्त करता है। उसके दुःख सुखका विधाता दूसरा कोई नहीं, वह स्वयं है।

अथ प्रसादये न त्वां शापमोक्षाय भामिनि।
यन्मन्यसे असाधूक्तं मम तत्क्षम्यतां सति॥
(श्रीमद्भा० ६।१७।२४)

हे देवि! मैं शापसे छुटकारा पानेके लिये आपसे क्षमा नहीं मांग रहा हूँ; किन्तु आपको मेरी जो बात अनुचित प्रतीत हुई हो, उसके लिये मैं क्षमा चाहता हूँ।

चित्रकेतु इस प्रकार शिव-पार्वतको प्रसन्नकर उनके सामने ही विमान पर चढ़कर वहाँसे चले गये। ऐसा देखकर वहाँ पर उपस्थित समाजको बड़ा ही विस्मय हुआ। यहाँ तक कि जगतगुरु शंकरजीने सबके सामने ही पार्वतीजीसे कहा—

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः।
माहात्म्यं भृत्य भृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम्॥
नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्ग नरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥
(श्रीमद्भा० ६।१७।२७-२८)

हे सुन्दरि ! अद्भुतकर्मा भगवानके निःस्पृह उदार-हृदय दासानुदासोंकी महिमा तुमने अपनी आँखों देख ली। स्वर्ग, मोक्ष, नरक को तुल्य देखने वाले भगवद्भक्त किसीसे नहीं डरते।

नाहं विरिञ्चो न कुमार नारदो,
न ब्रह्मपुत्रा मुनयः सुरेशाः।
विदाम यस्येहितमंशकांशका,
न तत्स्वरूपं पृथगीशमानिनः॥
न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा।
आत्मत्वात्सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः॥
(श्रीमद्भा० ६।१७।३२-३३)

मैं, ब्रह्मा तथा उनके पुत्र नारद मुनि, देवता कोई भी भगवान्की लीलाका रहस्य नहीं जानते, फिर अज्ञ मायाबद्ध जीव जो अपनेको अलग-अलग ईश्वर मान बैठे हैं, वे उनके स्वरूपको जान ही कैसे सकते हैं? भगवान्को प्रिय-अप्रिय अपना-पराया कोई नहीं है। भगवान् आप ही प्राणी मात्रके आत्मा होनेके प्राणीमात्रको प्रिय हैं। सर्वत्र समान दृष्टि रखने वाले शान्त एवं समदर्शी महाभागवत चित्रकेतु भगवानके प्रिय सेवक हैं और मैं भी भगवान्का प्रिय हूँ। इससे मुझे क्रोध नहीं हुआ।

भगवान्के परम भक्त ये चित्रकेतु ही कालान्तर में जाकर इन्द्रके भयानक शत्रु वृत्र नामक असुर हुए। त्वष्टाने अपने पुत्र विश्वरूपके मारे जानेपर "तू बढ़ और शीघ्र शत्रुको मार" इस अर्थका मन्त्र पढ़कर दक्षिणाग्निसे इन्हें उत्पन्न किया। वृत्रासुरने अपने प्रतापसे तीनों लोकोंको घेरकर उत्पात मचाना आरम्भ कर दिया। इस पर देवताओंका कुछ भी बल नहीं चला। अन्तमें बचनेका और कोई उपाय न देखकर उन्होंने भगवान्की स्तुति की। भगवान्ने दधीचिकी अस्थियोंसे वज्र बनाकर उसके द्वारा वृत्रासुरका वध करनेका आदेश दिया। भगवान्की आज्ञानुसार देवताओंने दधीचिसे अस्थियाँ माँगी। उससे वज्र बना और इन्द्र उस वज्रको लेकर देवताओंके सहित वृत्रको मारनेके लिये युद्ध-स्थलमें आ डटे। वृत्रासुरने इन्द्रको आया देखकर, उसकी बड़ी प्रतारणा की। इन्द्रको अनेक हत्याओंका दोषी बताया। फिर कहा—"इन्द्र दधीचिकी तेज पूरित अस्थियोंसे बना वज्र मुझ पर चलाओ। यह तेरा वज्र विफल नहीं जायगा। क्योंकि तुझे भगवान् श्रीहरिने मेरे मारनेकी प्रेरणा दी है। मैं भी अपने स्वामीके चरणोंमें मन लगाकर उत्तम गति प्राप्तकर लूँगा। मेरे स्वामी अपने भक्तके धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धी परिश्रमको दूरकर उस पर कृपा करते हैं। उसकी सारी सम्पत्तिका हरणकर निरभिमानी बना देते हैं।"

इस प्रकार वृत्रासुर इन्द्रको उपदेश देकर भगवान् के चरणोंका ध्यान करता हुआ स्तुति करने लगता है—

अहं हरे तव पादैकमूल
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥
(श्रीमद्भा. ६ ११।२४)

भगवन्! आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं अनन्य भावसे आपके चरणारविन्दके आश्रित दासोंका अनुदास होऊँ। प्राणनाथ! मेरा मन आपके मङ्गलमय गुणोंका स्मरण करता रहे। मेरी वाणी

आपके उन्हीं गुणोंका गान करे और मेरा शरीर आपकी सेवा किया करे।

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योग सिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे॥
(श्रीमद्भा. ६।११।२५)

हे सर्व सौभाग्यनिधे! आपको छोड़कर मैं स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक, चक्रवर्ती राज्य, पातालका एक छत्र राज्य, अणिमादि सिद्धियाँ, यहाँ तक कि मोक्ष भी नहीं चाहता।

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
(श्रीमद्भा. ६।११।२६)

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं
संसार चक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्मायया ऽऽत्मात्मजदारगेहे
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्॥
(श्रीमद्भा. ६।११।२७)

जैसे पक्षियोंके पंखहीन बच्चे अपनी माँकी बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है—वैसे ही कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है। प्रभो! मैं मुक्ति नहीं चाहता। मेरे कर्मोंके फलस्वरूप मुझे बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकना पड़े, इसकी परवा नहीं। परन्तु मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, जिस-जिस योनिमें जन्मूँ, वहाँ-वहाँ भगवान्‌के प्यारे भक्तजनोंसे मेरी प्रेम-मैत्री बनी रहे। स्वामिन्! मैं केवल यही चाहता हूँ कि जो लोग आपकी मायासे देह-गेह और स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्त हो रहे हैं, उनके साथ मेरा कभी किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न हो॥२६-२७॥

अन्तमें इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया और वह परम गतिको प्राप्त हुआ।

अनन्य दासोंमें भक्त प्रह्लादकी चर्चा भी बड़ी ही मधुर होगी। उसने भी पूर्णरूपेण आत्म-समर्पण प्रभुके चरणोंमें कर दिया और सर्व-प्रकारेण निर्भय हो गया। वह भगवान्‌की गुण चर्चामें ही स्वयंको लीन रखने लगा। भगवान्‌के चरणकमलों की सुगन्धिकी मादकतामें झूमता रहा।

इसके पिताका नाम हिरण्यकशिपु था, जो हिरण्याक्षका भाई था, जिसका वध भगवान्‌ने वाराह अवतार धारणकर किया था। देवताओंके और भगवान्‌के द्वेषी उसी हिरण्यकशिपुके पुत्रके रूपमें भक्तराज प्रह्लादने जन्म लिया। बालक प्रह्लादमें महाभागवतोंके सभी गुण विद्यमान थे। वह बचपन से ही—

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया।
कृष्णग्रह गृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्॥
आसीनः पर्यटन्नश्नन् शयानः प्रपिबन् ब्रुवन्।
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्द परिरम्भितः॥
क्वचिद्रुदति वैकुण्ठ चिन्ताशबल चेतनः।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित्॥

नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित् ।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ॥
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः ।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥
स उत्तमश्लोक पदारविन्दयो
र्निषेवयाकिञ्चन सङ्गलब्धया ।
तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहु-
र्दुःसङ्गदीनान्यमनः शमं व्यधात् ॥

(श्रीमद्भा. ७।४।३७-४२)

प्रह्लाद बचपनमें ही खिलौनाका खेल छोड़कर भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय हो जाया करता था। वह भगवान्‌के अधीन हो चुका था। इससे वह जड़की भाँति रहता था। उसे जगतकी सुध-बुध न रहती। सोते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते और बातचीत करते समय भी केवल गोविन्दके चरणकमलमें उनका चित्त लगा रहता। मैं क्या करता हूँ, उन्हें, ऐसा भी भान (बोध) नहीं रहता था। भगवान्‌के चिंतनमें लवलीन रहनेके कारण, किसी समय वह रुदन करता, किसी समय हँसता और कभी उच्च स्वरसे भगवन्नामोंका गान करता। किसी समय उन्मुक्त होकर गर्जना करता और कभी लज्जाको छोड़कर भावावेशमें नृत्य करने लगता, किसी समय भगवान्‌की भावनामें तन्मय होकर भगवान्‌के समान चेष्टा करता और किसी समय भगवान्‌की भावनाका परमसुख प्राप्तकर रोमांचित हो चुपचाप बैठ जाता। निष्किंचन पुरुषोंके संगसे प्राप्त हुई भगवान्‌के चरणों की सेवाके प्रभावसे अपने मनको शान्ति देते हुए दुःसंगसे दूर रहकर, दूसरे पुरुषोंके मनको भी शान्ति देता था।

इस प्रकारके अनन्य भक्त पर भी हिरण्यकशिपु का अत्यधिक द्वेष हो गया। उसने अपने पुत्र प्रह्लाद को दण्डनीति, राजनीति, अर्थनीति आदि पढ़नेके लिये गुरु शण्डामर्कके पास भेजा। आज्ञाके अनुसार गुरुने उसे शिक्षा देनेका पूरा-पूरा प्रयत्न किया। परन्तु उसे भगवान्‌की गुण चर्चाके सिवाय दूसरी चर्चा अच्छी ही नहीं लगती। पिताने एकान्तमें पुत्रको समझाया, परन्तु प्रह्लादने उसपर ध्यान नहीं दिया। इससे हिरण्यकशिपु और भी क्रुद्ध हो गया। उसने गुरुको बुलाकर पूछा कि तुमने इसे ऐसी बातें क्यों सिखलायी ? शण्डामर्कने कहा—यह न तो मेरा पढ़ाया हुआ विषय ही सुनता है और न दूसरी ही बातका स्मरण करता है। इसकी तो यह बुद्धि स्वाभाविकी है। गुरु-पुत्रोंकी ऐसी बात सुनकर हिरण्यकशिपुने फिर दुबारा प्रह्लादको बुलाकर पूछा तो उसने निर्भीक होकर भगवद् गुण चर्चाके अतिरिक्त अन्य चर्चा ही नहीं की। ऐसी स्थितिमें हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र प्रह्लादको मार डालनेका निश्चय कर लिया। परन्तु जिसके भगवान् रक्षक हैं, उसका कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता है। राक्षसोंको मार देनेका आदेश दे दिया। राक्षसोंने उसे मारनेके अनेकों प्रयत्न किये। उसे मत्त हाथियों से कुचलवाया, सर्पोंके बीचमें छोड़ा, पर्वतोंके शिखरों से गिराया। मायाके बहुविध प्रयोग किये। गड्ढे आदि में गिराया, विष दिया, हिममें गाड़ दिया अग्निमें जलाया, जलमें डूबोया, पर्वत उठाकर उसपर गिराये, परन्तु उस निर्दोष एवं एकनिष्ठ भक्तको कोई किसी भी प्रयत्नसे न मार सका। जहाँ कहीं भी उसे स्थान मिलता, वह वहीं पर भागवत धर्मका उपदेश

करता। अन्तमें एक दिन स्वयं हिरण्यकशिपुने अपने हाथमें खड्ग लेकर कहा—तू यदि भगवान्‌को सर्वत्र मानता है तो बता क्या इस खम्भेमें भी तेरा भगवान् है? जिसे तू अपना शरणदाता मानता है। अब देखता हूँ वह तेरी किस प्रकार रक्षा करता है? ऐसा करते हुए क्रुद्ध होकर खम्भे के बीचमें अपनी मुट्ठीसे प्रहार किया।

उसी समय भयानक शब्द हुआ, जो सारे ब्रह्माण्डमें व्याप्त हो गया। सहसा खम्भेसे भगवान् नृसिंहका अवतार हुआ—

सत्यं विधातुं निज भृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥
(श्रीमद्भा० ७।८।१८)

भगवान्‌ने अपने भक्तकी बातको सत्य करनेके लिये, और मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ, यह प्रकट रूपसे दिखानेके लिये तथा अपने भक्तकी रक्षाके हेतु न सिंह और न ही मनुष्य अर्थात् नृसिंह स्वरूप प्रकट किया। फिर भगवान्‌ने हिरण्यकशिपुको अपने जांघोंपर रखकर अपने हाथोंके तीक्ष्ण नखोंसे उसका पेट चीर डाला, जिससे वह तत्क्षण मृत्युको प्राप्त हो गया। सभी देवोंने आकर भगवान्‌की स्तुतिकी; परन्तु भगवान्‌का क्रोध शान्त नहीं हुआ।

तब ब्रह्माने भगवान्‌को शान्त करनेके लिये प्रह्लाद को उनके समीप भेजा और कहा—पुत्र तुम ही भगवान्‌की शरणमें जाकर प्रभुके क्रोधको शान्त करो। प्रह्लाद भगवान्‌की शरणमें पहुँचा और प्रणत होकर अनन्य चित्तसे उनकी स्तुति करने लगा—

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः
सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः।
नाराधितुं पुरगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः॥
(श्रीमद्भा० ७।९।८)

सत्वगुणी बुद्धिवाले ब्रह्मादि देवता मुनि और सिद्धगण अपनी धारा प्रवाह स्तुति और गुणोंसे जिनको प्रसन्न करनेमें असमर्थ रहे, उन भगवान्‌की मैं असुर जातिमें उत्पन्न क्षुद्र बालक क्या स्तुति कर सकता हूँ। भगवान्‌को मैं किस प्रकार प्रसन्न कर सकता हूँ।

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्द विमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(श्रीमद्भा० ७।९।१०)

त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र-
संसारचक्र कदनाद् प्रसतां प्रणीतः।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
प्रीतोऽपवर्ग शरणं ह्वयसे कदा नु॥
(श्रीमद्भा. ७।९।१६)

मेरी समझसे द्वादश गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाभके चरणकमलोंसे विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर रखे हैं, क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुल तकको पवित्र कर देता है। किन्तु वह अभिमानी ब्राह्मण स्वयंको भी पवित्र नहीं कर सकता है।

हे दीन वत्सल ! मैं दुःसह और उग्र संसार चक्रके दुःखसे बहुत डरता हूँ । वह भी साधारण संसारचक्रसे नहीं, अपितु अपने कर्मोंमें बंधकर हिंसक लोगोंके बीच पड़ा हूँ । इससे मुझको बहुत भय लगता है । अतएव हे मेरे स्वामी ! आप प्रसन्न होकर जीवमात्रके शरण एवं मोक्ष-स्वरूप आपके चरणारविन्दोंमें कब मुझे बुला लेंगे ।

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-
स्तावद् विभोतनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम्॥
(श्रीमद्भा. ७।९।१९)

क्वाहं रजः प्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥
(श्रीमद्भा. ७।९।२६)

एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे
कामाभिकाममनुयः प्रपतन्प्रसङ्गात् ।
कृत्वाऽऽत्मसात् सुरर्षिणा भगवन् गृहीतः
सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् ॥
(श्रीमद्भा. ७।९।२८)

तत् तेऽर्हत्तम नमः स्तुति कर्म पूजाः
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥
(श्रीमद्भा. ७।९।५०)

हे नृसिंह ! दुःखी लोगोंके दुःख मिटानेके लिये जितने साधन इस जगतमें प्रसिद्ध हैं, वे सब तब तक काममें आते हैं जब तक आप जीवकी उपेक्षा नहीं करते । यदि आपने उपेक्षा की तो माता-पिता बालककी रक्षा नहीं कर सकते, औषध रोगीकी रक्षा नहीं कर सकती, समुद्रमें डूबते हुएकी नौका रक्षा नहीं कर सकती ।

हे परमेश्वर ! कहाँ तो रजोगुणसे रचित तमोगुणी बुद्धियुक्त असुर कुलमें जन्म ग्रहण किया हुआ मैं और कहाँ आपकी कृपा ! धन्य है । आपने अपना परम प्रसाद रूप और सकल संतापहारी वह करकमल मेरे सिरपर रखा है, जिसे आपने ब्रह्मा, महेश और लक्ष्मीजीके सिरपर भी नहीं रखा । महामुनि नारदने संसाररूप सर्पवाले कूपमें पड़े और विषय सुखकी लालसा वाले लोगोंके प्रसंगसे हटाकर मुझे अपना बनाकर रखा था । ऐसे आपके दासोंकी सेवाको मैं कैसे परित्याग कर सकता हूँ ।

इसलिये हे परम पूज्य ! प्रणाम, स्तुति, सर्वकर्म-समर्पण, पूजन, चरणोंकी स्मृति और कथा श्रवण—इस प्रकार आपकी छः अंगोंवाली सेवाके बिना परमहंसोंके सर्वस्व आपकी भक्ति किस प्रकार प्राप्त हो सकती और भक्तिके बिना आपकी प्राप्ति कैसे होगी ? प्रभो ! कृपाकर आप मुझे अपना दास बनाइये ।

इस प्रकारकी गई प्रह्लादकी स्तुतिसे भगवान् प्रसन्न हुए और प्रह्लादको उसकी इच्छाके अनुसार वर माँगनेका लालच दिया; परन्तु प्रह्लादने कहा—

मा मां प्रलोभयोत्पत्त्याऽऽसक्तं कामेषु तैर्वरैः ।
तत्संङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ॥

प्रभो ! मैं जन्मसे ही विषयोंमें आसक्त हूँ । अब मुझे वरदानोंका लालच देकर मत फँसाइये । मैं

विषयोंके संगसे भयभीत और कातर होकर उनसे छुटकारा पानेकी इच्छासे आपकी शरणमें आया हूँ।

जो आपका दास होकर आपसे विषय सुखोंकी प्रार्थना करता है वह तो लेन देन करनेवाला वणिक् है। जो सेवकसे सेवा करानेके लिये, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामनाएँ पूर्ण करता है, वह सच्चा स्वामी नहीं, व्यापारी है। मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं। नृसिंह भगवान्‌ने अन्तमें प्रह्लादको यही वर दिया कि तू अपनी कीर्त्ति फैलाता हुआ मुझको ही प्राप्त होगा।

भक्तोंकी महिमाका जितना गुणगान किया जाय वह थोड़ा ही है। भक्त गजराज भी उसी कोटिके भक्त हैं। उनके उद्धारके लिये भी भगवान् हरिको सब कुछ छोड़कर उसके पास पहुँचना पड़ा था।

गजेन्द्र पूर्व जन्ममें द्रविड़ देशमें पांड्यवंशी राजा था। उसका नाम इन्द्रद्युम्न था। कुछ समय तक राज्य करनेके पश्चात् राज्यपाटको छोड़कर मलय पर्वत पर आराधना करने लगे। वहीं एक दिन उनके पास अगस्त्य मुनि पधारे। उस समय राजा भगवान की पूजा-अर्चामें लगा हुआ था। अतः ऋषिका आदर सत्कार न कर सका। इससे ऋषिको क्रोध हुआ। ऋषिने कहा, तू हाथीके समान जड़-बुद्धि है; इसलिए हाथीकी योनि प्राप्त हो। ऋषिके शापसे इन्द्रद्युम्न हाथीकी योनिको प्राप्त हुआ।

प्राह पहले हू हू नामका गन्धर्व था। वह भी किसी सरोवरमें स्नान कर रहा था। उस समय देवल ऋषि उस ओर से निकले। उसने भी ऋषिका स्वागत नहीं किया। इससे ऋषिने क्रुद्ध होकर उसे मगर होने का शाप दे दिया।

गज-योनिको प्राप्त कर महाराज इन्द्रद्युम्न एक समय वरुण देवताके द्वारा तैयार कराये गये क्षीर-सागरके बीच त्रिकूट नामक पर्वत पर स्थित ऋतुमान नामके एक सुन्दर उपवनके भीतर बने हुए कमल पुष्पोंसे सुवासित सरोवरमें गर्मीसे व्याकुल होकर सपरिवार जल विहारका आनन्द ले रहा था।

हू हू नामका गन्धर्व भी मगर योनिको प्राप्त कर दैवयोगसे इसी सरोवरमें था। उसने जल विहारमें प्रमत्त गजराजको पकड़ लिया। इस प्रकार अकस्मात विपत्तिमें पकड़कर उस बलवान गजेन्द्रने अपनी पूरी शक्तिसे अपनेको छुड़ानेकी चेष्टा की। परन्तु छुड़ा न सका। उसके दूसरे साथी हाथी हाथिनियोंने भी उसकी यथासाध्य सहायता की। परन्तु उनकी भी एक न चली।

अनेक वर्षों तक गज-ग्राहकी परस्पर खींचातानी चलती रही। अन्तमें गज थककर असहाय हो गया। उसे बचनेकी कोई आशा न रही। उसी समय उसे पूर्व जन्मकी भगवदाराधनाके कारण भगवान्‌की स्मृति हो आयी। उसने समस्त जगतके स्वामी भगवान्‌को पुकारा। उसने किसी देवता विशेषके चिह्न, आयुध, वाहन या आकार आदिका स्तवन नहीं किया इसलिये चिह्नोंके अभिमानी कोई देवता रक्षा करने नहीं पहुँचे, न उसने परम प्रभुको छोड़कर दूसरोंको ही पुकारा और न उनकी स्तुति ही की। वह तो निरुपाय हो अशरण शरण श्रीहरिको बार-बार टेरने लगा—

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम्।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि॥

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम् ।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ॥
(श्रीमद्भा. ८।३।२-३)

जो जगतके आधार हैं, जो उसके उपादान कारण और कर्त्ता हैं तथा जो कार्य कारणसे परे हैं, उन स्वयं सिद्ध भगवान्‌की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ।

यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं
क्वचिद् विभातं क्व च तत् तिरोहितम् ।
अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते
स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ॥
(श्रीमद्भा० ८।३।४)

जिनकी मायासे अपनेमें अर्पित यह विश्व प्रपंच कभी प्रादुर्भूत होता है और कभी तिरोहित होता है, जो स्व-प्रकाश हैं तथा कार्य और कारण इन दोनों ही अवस्थाओंको साक्षी रूपमें अलुप्त दृष्टिसे सदा-सर्वदा निरीक्षण करते हैं, वे परात्पर प्रकाशकके भी प्रकाशक श्रीहरि मेरी रक्षा करें ।

न यस्य देवा ऋषयः पदं विदु-
र्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम् ।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो
दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ।
दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं
विमुक्त सङ्गा मुनयः सुसाधवः ।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने
भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥
(श्रीमद्भा० ८।३।६-७)

जिसके पदको देवता भी नहीं जानते, फिर दूसरा कौन कहने योग्य होगा ? जैसे नटके खेलका पता नहीं लगता, वैसे ही जिनका चरित्र जाननेमें नहीं आता, वे परम पुरुष मेरी रक्षा करें । जिनके परम मंगल पदके दर्शनकी इच्छासे प्राणी मात्रमें आत्म दृष्टि रखने वाले सबके सुहृद उत्तम साधु मुनि लोग जन सङ्ग छोड़कर वनमें अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण कर तप करते हैं, वे परमात्मा मेरी गति हों ।

नमो नमस्तेऽखिल कारणाय
निष्कारणायाद्भुत कारणाय ।
सर्वागमाम्नाय महार्णवाय
नमोऽपवर्गाय परायणाय ॥
(श्रीमद्भा० ८।३।१५)

मादृक् प्रपन्न पशुपाश विमोक्षणाय
मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय ।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत
प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥
(श्रीमद्भा० ८।३।१७)

नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याहंधिया हतम् ।
तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम् ॥
(श्रीमद्भा० ८।३।२९)

सबके कारण और स्वयं कारणरहित अद्भुत कारण और सर्व शास्त्रोंके व वेदोंके सागर रूप, उत्तम पुरुषोंके आश्रय मोक्ष-स्वरूप आपको मेरा बारम्बार प्रणाम है । मेरे जैसे पशुका पाश बंधन छुड़ानेवाले सर्व प्रकारसे मुक्त परम कारुणिक आलस्यरहित, परिच्छेद रहित अन्तर्यामी-स्वरूप सब प्राणियोंके मनमें प्रकाशित साक्षीरूप आपको नमस्कार है ।

हे प्रभु ! अज्ञानसे भरी इस गजकी देहमें नहीं रहना चाहता हूँ । अतः कृपाकर मेरा उद्धार कीजिये । आपकी मायाके कारण बद्धजीव देहाभिमान रूप

आवरणसे ढके निज स्वरूपको नहीं जानते । उनका उद्धार करनेवाले अपार महिमाशाली भगवान् आपकी शरण ग्रहण करता हूँ ।

भक्तकी पुकार पर भक्तवत्सल श्रीहरि अपने गरुड़पर विराजमान होकर बड़ी शीघ्रतासे चल पड़े, उन्हें गरुड़की गति भी धीमी मालूम पड़ने लगी। तब स्वयं पैदल दौड़ पड़े और शरणागत गजेन्द्रकी रक्षाकी, ग्राहका सुदर्शन चक्रके द्वारा वध किया । गज और ग्राह उनकी कृपासे दिव्य स्वरूपको प्राप्तकर स्तुति करते हुए अपने-अपने लोकमें चले गये ।

(क्रमशः)

—वागरोदी कृष्णचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ ।

सन्दर्भ-सार

तत्त्व-सन्दर्भ–४ (श्रीमद्भागवत की श्रेष्ठता)

श्रीमद्भागवतके पहले श्लोकमें गायत्रीका भाष्य है । गरुड़ पुराणके अनुसार यह वेदान्त सूत्रका अर्थ-विस्तार है, महाभारतका अर्थ-निर्णायक है तथा वेदार्थको सहज-सरल और स्पष्ट रूपमें बोधगम्य करानेवाला है । समस्त शास्त्रोंमें श्रीमद्भागवतकी महिमाका प्रचुर वर्णन मिलता है । अग्नि एवं मत्स्य-पुराण आदि शास्त्रोंमें द्वादश स्कन्धयुक्त श्रीमद्भागवत-पाठका माहात्म्य वर्णन किया गया है । इसलिये श्रीमद्भागवतके पहले स्कन्धसे लेकर बारहवें स्कन्ध तक सम्पूर्ण भागवतका ही श्रीशुकदेव गोस्वामीने परीक्षित महाराजको श्रवण कराया था—इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है ।

श्रीमद्भागवतका क्रमविकाश इस प्रकार पाया जाता है—श्रीवेदव्यास भक्तियोगकेद्वारा जब चित्तको सम्पूर्णरूपसे समाहित कर जीवोंके कल्याणके लिये समाधिस्थ हुए, उस समय समस्त वेदोंका परम निगूढ़ तात्पर्य—परमार्थका संक्षेप-संग्राहक एक पद्य उनके हृत्पटल पर आविर्भूत हुआ । यह पद्य गायत्रीके समान अर्थवाला है । उसीको उन्होंने कुछ परिवर्द्धित कर ब्रह्मसूत्रके रूपमें एवं तदनन्तर उसीको दृष्टान्त, युक्ति, अवतारणा, इतिहास भाग, गायत्रीके तात्पर्य और उपसंहार आदिसे युक्तकर जगत्में इस सुविस्तृत श्रीमद्भागवतका प्रकाश किया ।

प्राचीन ऋषियों एवं आधुनिक लब्धप्रतिष्ठ विद्वन्मण्डलीके लिये भी परमादरणीय वस्तु है । इस श्रीमद्भागवतके ऊपर हनुमद्भाष्य, वासना भाष्य, विद्वत्कामधेनु, तत्त्व दीपिका, भावार्थ-दीपिका और परमहंसप्रिया आदि अनेक भाष्य और व्याख्याएँ तथा मुक्तफल, हरिलीला, मुक्तावली आदि बहुतसे निबन्ध ग्रन्थ—प्रसिद्ध-प्रसिद्ध महानुभावों द्वारा रचित हुए हैं, जो श्रीमद्भागवतके सर्वजनीन होनेका जीता-जागता प्रमाण है ।

यदि कोई यह कहे कि आचार्य शंकरने गीता और उपनिषद् आदिकी टीकाएँ लिखी हैं; परन्तु उन्होंने श्रीमद्भागवतकी टीका क्यों नहीं की ? उसका उत्तर यह है कि शंकराचार्य—शिवके अवतार थे; वे बौद्ध धर्मको हटा कर मोक्षधर्मका प्रचार करने

के लिये आविर्भूत हुए थे। भगवानने शंकरको अपना तत्त्व (भगवत् तत्त्व) गुप्त रखनेका भी आदेश दिया था। इसीलिये अपनी इच्छा रहने पर भी भगवान् कहीं असन्तुष्ट न हो जाँय—इस डरसे उन्होंने भगवत्तत्त्वका प्रकाश नहीं किया है। भागवत—भगवत्तत्त्वका प्रकाश करनेवाला सर्वोत्तम ग्रन्थ है। उसकी टीका करनेसे भक्ति धर्मका प्रकाश होता तथा मोक्ष धर्मका प्रचार बन्द हो जाता, इसलिये उन्होंने जानबूझ कर ही भगवद् आदेशका पालन करनेके लिये भागवतकी टीका नहीं लिखी। फिर भी परम भगवद्भक्त श्रीशंकर भगवल्लीला या भगवत-तत्त्व वर्णन करनेका लोभ संवरण नहीं कर सके। उन्होंने स्वरचित "गोविन्दाष्टक" में व्रजेश्वरीके विश्वरूप दर्शनसे उत्पन्न विस्मयका तथा गोपियोंके वस्त्रहरण आदि लीलाओंका तटस्थरूपसे वर्णन करके भगवद् लीलाका वर्णन कर ही दिया है। श्रीशंकराचार्यके अवतारका कारण यह था कि कालक्रमसे तांत्रिक वीराचार आदि तामसिक धर्मोंमें अधिकांश लोग उन्मत्त होकर स्त्री, मद्य और पशुहिंसा आदि घृणित क्रियाओंमें विशेषरूपसे तत्पर होने लगे थे। उस समय बुद्धदेवने अवतीर्ण होकर "अहिंसा हि परमो धर्मः" का प्रचार किया था। परन्तु बुद्धदेवके पश्चात् उनके शिष्य-प्रशिष्यगण वैदिक धर्मके घोर-विरोधी होकर देव-देवी पूजा या वैदिक क्रियाओंको सदाके लिये समाप्त कर डालनेके लिये तत्पर हो गये। तभी भगवानने जगत्के कल्याणके लिये श्रीशंकरको अवैदिक भावको नष्ट कर वैदिक भावकी पुनः प्रतिष्ठा करनेके लिये तथा भगवानके सविशेष रूपको आच्छादित करनेके लिये इङ्गित किया—

स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु।
मां च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा॥

भगवानको गोपन रखनेका और भी एक उद्देश्य था। किसी समय स्वायम्भुव मन्वन्तरमें नमुचि आदि कतिपय असुरगण बड़े प्रबल हो उठे थे। वे सहज साध्य विष्णुभक्तिका अनुष्ठान करके बड़े बलवान हो गये थे। इसलिये देवतागण भी उन प्रबल-पराक्रमी असुरोंसे संग्राममें परास्त होकर श्री भगवानके शरणापन्न हुए। उस समय भगवानने परम प्रिय महादेवजीसे कहा—असुर लोग मेरी भक्ति का अनुष्ठान करनेके कारण मेरे लिये अवध्य हैं। इसलिये तुम देव-द्रोही असुरोंको मोहित करनेके लिये इस प्रकारके कुछ कल्पित शास्त्रोंका प्रचार करो, जिससे वे मोहित होकर विष्णुभक्तिका त्याग कर दें। मैं इस कार्यमें तुम्हारी सहायताके लिये काणाद्, गौतम, कपिल, दुर्वासा, मृकण्डु, बृहस्पति, भार्गव और जमदग्निको दे रहा हूँ। तुम इनको अपनी शक्तिमें आविष्ट कराकर तामसिक शास्त्रोंका प्रचार करो। मनुष्यकी खोपड़ी, भस्म और अस्थि धारणकी कल्पित विधिओंसे युक्त पाशुपत-शास्त्रकी रचनाकरके मेरी भक्तिको छिपा दो। ऐसा होनेसे असुरगण भ्रान्त और पतित हो जायेंगे। भगवानकी ऐसी आज्ञा पाकर महादेव शंकरके रूपमें आविर्भूत हुए और मायावादरूप असत् शास्त्रके प्रचार द्वारा ब्रह्मके निर्गुण रूपका प्रतिपादन करके जीव और ब्रह्मका ऐक्य स्थापन किया। इस कथनकी पुष्टिमें पद्मपुराण ६३ अध्याय द्रष्टव्य है।

उसी अध्यायमें पुराणोंके सात्त्विक आदि विभागोंका भी वर्णन मिलता है—

मात्स्यं कौर्म्यं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च ।
आग्नेयञ्च षडेतानि तामसानि निबोध मे ।
वैष्णवं नारदीयञ्च तथा भागवतं शुभं ।
गारुडञ्च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने ।
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै ॥
ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्त्तं मार्कण्डेयं तथैव च ।
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे ॥
सात्त्विका मोक्षदाः प्रोक्ताः राजसाः स्वर्गदाः शुभाः ।
तथैव तामसा देवि निरयप्राप्ति - हेतवः ॥
तथैव स्मृतयः प्रोक्ताऋषिभिस्त्रिगुणान्विताः ।
सात्त्विका राजसाश्चैव तामसा शुभदर्शने ॥
वाशिष्ठञ्चैव हारीतं व्यासं पराशरं तथा ।
भारद्वाजं काश्यपञ्च सात्त्विका मुक्तिदाः शुभाः ॥
याज्ञवल्क्यं तथात्रेयं तैत्तिरं दाक्षमेव च ।
कात्यायनं वैष्णवंच राजसाः स्वर्गदाः शुभाः ॥
गौतमं बार्हस्पत्यञ्च सम्वर्त्तञ्च यमं स्मृतम् ।
शाङ्खं चौशनसं देवि तामसा निरयप्रदाः ॥
किमत्र बहुनोक्तेन पुराणेषु स्मृतिष्वपि ।
तामसा नरकायैव वर्जयेत्तान्विचक्षणः ॥

सात्त्विक पुराण—विष्णु, नारद, गरुड, वराह, पद्म, भागवत ।

राजसिक पुराण—ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त्त, मार्कण्डेय, वामन और भविष्य ।

तामसिक पुराण—मत्स्य, कुर्म, लिङ्ग, शैव, स्कन्द और अग्नि ।

सात्त्विकस्मृति—वशिष्ठ, हारीत, व्यास, पराशर, भरद्वाज और कश्यप ।

राजस स्मृति—याज्ञवल्क्य, आत्रेय, तैत्तिर, दाक्ष, कात्यायन और वैष्णव ।

तामस स्मृति—गौतम, बार्हस्पत्य, साम्वर्त्त, यम, शङ्ख और औशनस ।

सात्त्विक शास्त्र मोक्ष देते हैं । राजस शास्त्र स्वर्ग प्रदान करते हैं और तामसिक शास्त्र नरकमें गिराते हैं । इसलिये तामस शास्त्र सर्वतोभावेन परित्यज्य हैं ।

श्रीमद्भागवत—वेदान्तका अपौरुषेय व्याख्या-ग्रन्थ है । आचार्य शंकर द्वारा श्रीमद्भागवतपर कोई व्याख्या या टीका नहीं लिखी गयी है । इसका कारण यह है कि उन्होंने अपने प्रभु भगवानकी आज्ञा से उपनिषदोंके स्वरचित भाष्यमें श्रीव्यासदेवके मतके विरुद्ध विवर्त्तवादकी स्थापना की है, परन्तु श्रीमद्भागवतको भगवानका अभिन्न कलेवर जानकर शुद्धभक्तिके सिद्धान्तोंमें अद्वैतवादको प्रवेश करानेका वे साहस नहीं कर सके ।

कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि भगवानको अपने तत्त्वको छिपानेकी आवश्यकता ही क्या थी ? उसका उत्तर यह है कि बौद्धगण वैदिक कर्मोंके घोर विरोधी थे । वे ईश्वरको भी स्वीकार नहीं करते थे । वैसे शून्यवादियोंके बीच अपनी श्रीमूर्त्ति के सिद्धान्तकी स्थापना न करके सर्व प्रथम वेदके आधारपर ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वासकी स्थापना करने की आवश्यकता है—ऐसा सोच कर भगवानने शंकरको आविर्भूत कराकर उनके द्वारा वेदोंकी सत्यताकी प्रतिष्ठा करायी तथा लोगोंमें इस भावना को पैदा करायी कि भगवान हैं । तदनन्तर श्रीरामानुज, मध्व आदि वैष्णव आचार्योंके द्वारा और

अन्तमें स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभुके रूपमें आविर्भूत होकर शुद्धभक्तिकी भक्तिकी स्थापना की।

श्रीमद्भागवतका सर्व-प्रथम कीर्तन महाराज परीक्षितकी सभामें श्रीशुकदेव गोस्वामीद्वारा हुआ था। उसका कारण यह था कि एक ब्राह्मण बालकने महाराज परीक्षितको यह अभिशाप दिया था कि वे सातवें दिन साँपके काटनेसे संसारको त्याग करेंगे। ऐसा जानकर महाभागवत महाराज परीक्षितने विचार किया कि यह ब्राह्मण-शाप भगवानकी इच्छासे मेरे कल्याणके लिये उपस्थित हुआ है। ऐसा सोचकर वे शाप सुनते ही संसारको छोड़कर गंगाके तटपर उपस्थित हुए। भगवद्भक्तोंमें प्रधान पाण्डवोंके वंशधर अपना अन्तिम समय कैसे व्यतीत करेंगे—निश्चय ही उनके निकट भगवत चर्चा होगी—ऐसा निश्चित करके जो ऋषिगण तीर्थभ्रमणके बहाने पृथ्वीके तीर्थ-क्षेत्रोंको पवित्र किया करते हैं, वे अत्रि, वशिष्ठ, च्यवन, शरद्वान, अरिष्ट, नेमि, भृगु, अंगिरा, पराशर, विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, मेधातिथि, देवल, भरद्वाज, श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेव और देवर्षि नारद आदि तथा और भी अनेकों देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि वहाँ एकत्र हो गये। राजर्षि परीक्षित इन महात्माओंका यथायोग्य सम्मान करके यथा आसन आदि प्रदान करके उनसे यह प्रश्न किया कि मुझ निकट मृत्युवाले व्यक्तिके लिये कौनसा पारलौकिक कृत्य है? ठीक उसी समय वहाँ पर व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामी घूमते-घामते भगवत-इच्छासे वहाँ उपस्थित हुए। उनको देखकर वहाँ उपस्थित सब ऋषि-महर्षियोंने अपने-अपने आसनसे उठ कर शुकदेवका स्वागत किया तथा उनको ही वक्ताका आसन प्रदान किया। यद्यपि उस सभामें शुकदेवके गुरु और परम गुरु श्रीव्यासदेव और देवर्षि नारद भी उपस्थित थे, परन्तु उन्होंने भी शुकदेवके मुखसे ही भागवत श्रवण करनेमें ही अपनी सम्मति बतलाकर परमानन्दका अनुभव किया।

मुक्ताफल नामक ग्रन्थमें भी भागवतके सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है—

> वेदाः पुराणं काव्यञ्च प्रभुमित्रं प्रियेव च।
> बोधयन्तीति हि प्राहुस्त्रिवृद्भागवत पुनः॥

स्वामी अपने आमात्य और भृत्योंको जो आज्ञा देते हैं, वे दोष-गुणका विचार न करके नत-मस्तक होकर उसका पालन करते हैं, इसी प्रकार वेद जिन कर्मोंके अनुष्ठानके लिये आदेश देते हैं, धार्मिक मनुष्य किसी युक्ति या प्रमाण आदिकी अपेक्षा किये बिना ही उसका सुदृढ़ विश्वासके साथ अनुष्ठान करते हैं। जगतमें मित्र अपने सखाको उपदेश करता है, प्रिय करता है और आवश्यकता पड़नेपर नाना-प्रकारके युक्ति-प्रमाणोंकी भी अवतारणा करता है, उसी प्रकार श्रीमद्भागवत आदि पुराण भी हितोपदेश आदि तीनों प्रकारसे जीवोंका कल्याण करते हैं।

पत्नी अपने पतिके हितके लिये सर्वदा प्रयत्नशील रहती है, वह मधुर और प्रियवाणीसे पतिको प्रसन्न रखती है, उसी प्रकार श्रीमद्भागवतके शब्दालंकार आदिसे युक्त सरस वाक्यसमूह पाठकों के हृदयमें आनन्द भर देते हैं। अतएव वेद, पुराण एवं काव्य में जो सब गुण होते हैं, वे सभी श्रीमद्भागवतमें एकत्र पाये जाते हैं।

अनन्त शक्तिमान भगवानकी इच्छासे आवश्यकतानुसार उनकी लीला और धर्म आदिका संकोच या विस्तार होता है। एक ही लीला एक कल्पमें कुछ संकोचसे होती है, तो दूसरे कल्पमें आवश्यकतानुसार कुछ विस्तार के साथ होती है। कालविशेषमें प्रकाश या संकोच-विस्तारके कारण उसमें अनित्यता का दोष नहीं स्पर्श करता। श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार जानना चाहिये। जिस समय पितामह ब्रह्माजी श्रीभगवानके नाभि-कमलसे पैदा हुए थे, उस समय भगवानने ब्रह्माजी को जिस श्रीमद्भागवतका उपदेश किया था, वही अष्टादश पुराणोंके अन्तर्गत प्रकाशित था। पीछेसे श्रीकृष्णद्वैपायन वेद व्यासजीने देवर्षिनारदके उपदेशानुसार उसी अंशको विस्तृत रूपमें प्रकाशित किया था और अपने पुत्र शुकदेवको पढ़ाया था।

श्रीसूत गोस्वामीके निकट शौनकादि ऋषियोंके द्वारा प्रश्न किये जाने पर उन्होंने उसके उत्तरमें श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें जो बतलाया है उससे यह ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णचन्द्रके संसारसे अन्तर्द्धान होने पर उनके स्थान पर भागवत पुराणरूपी सूर्यका उदय हुआ। रात्रिकालमें सूर्यके अभावमें घोर अन्धकारमें जीव समूह कुछ भी नहीं देखपाते हैं, परन्तु सूर्यदेवके उदित होनेके साथ-साथ अन्धकारका नाश हो जाता है तथा जीवके नेत्र और वस्तुका प्रकाश होता है, उसी प्रकार श्रीमद्भागवत भी उदित होकर कलिहत जीवोंके अज्ञानान्धकारको नष्ट करके ज्ञान-चक्षुको प्रकाश करते हैं यथा उसकेद्वारा वास्तव वस्तु—श्रीभगवानके स्वरूपका दर्शन कराते हैं।

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष १०, संख्या ९, पृष्ठ १९९ से आगे]

न्यायाचरण

न्याय-आचरण अनेक प्रकारके हैं। उनमेंसे निम्नलिखित कुछेका उल्लेख किया जा रहा है—

(१) क्षमा, (२) कृतज्ञता, (३) सत्य-भाषण, (४) आर्जव अर्थात् सरलता, (५) अस्तेय, (६) अपरिग्रह, (७) दया, (८) वैराग्य, (९) सत्शास्त्रोंका सम्मान, (१०) तीर्थ-भ्रमण, (११) सुविचार, (१२) शिष्टाचार, (१३) इज्या और (१४) अधिकार-निष्ठा।

(१) क्षमा—कोई व्यक्ति अपराध करने पर भी उसे दण्ड देनेकी वासनाका सर्वथा त्याग ही क्षमा है। अपराधी व्यक्तिको दण्ड देना अन्याय नहीं है; परन्तु क्षमा करना उससे भी बढ़कर श्रेष्ठ न्याय है। प्रह्लाद और हरिदास ठाकुर अपने शत्रुओंको क्षमा करके जगतके आदर्शके रूपमें पूजित हो रहे हैं।

(२) कृतज्ञता—कोई उपकार करने पर उसे सदा-सर्वदा स्वीकार करनेका नाम कृतज्ञता है। आयगण

इतने कृतज्ञ होते हैं कि वे अपने पिता-माताकी उनके जीवनभर तक शक्तिके अनुसार सेवा करते रहते हैं। उनकी मृत्यु होने पर अशौच-ग्रहणका कष्ट करते हैं, शयन-भोजनका सुख त्याग देते हैं और दान या भोजके द्वारा उनका श्राद्धकार्य सम्पन्न करते हैं। इतना ही नहीं, प्रति वर्ष समय-समय पर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशपूर्वक श्राद्ध - तर्पण भी करते हैं। सबके प्रति कृतज्ञता स्वीकार करना पुण्य कार्य है।

(३) सत्य भाषण—जिसे विश्वासपूर्वक सत्य मानते हैं, उसे ही कहनेको सत्य भाषण कहते हैं। सत्य बोलनेवाले पुरुष पुण्यात्मा होते हैं और उनका सर्वत्र आदर होता है।

(४) आर्जव—सरलताका नाम ही आर्जव है। मानव जीवन जितना ही सरल होगा, उतना ही वह पुण्यवान होगा।

(५) अस्तेय—दूसरेका द्रव्य अन्यायरूपमें ग्रहण न करनेका नाम अस्तेय है। जबतक परिश्रम द्वारा या न्यायपूर्वक दान ग्रहण द्वारा किसीको कोई द्रव्य नहीं मिले, तबतक उस द्रव्यपर उसका अधिकार नहीं है। अन्धा-लंगड़ा, अपंग या असमर्थ व्यक्ति ही भिक्षाके अधिकारी हैं। जो समर्थ हैं,जिनको योग्यता है, उन्हें न्याय पूर्वक परिश्रमद्वारा द्रव्य संग्रह करना चाहिये। ऐसे लोगोंकी भिक्षा माँगनी ही परिग्रह है। (६) ऐसा नहीं करना ही अपरिग्रह है।

(७) दया—जीवमात्रपर दया करनी चाहिये। उपयुक्त और उचित दया ही वैध दया है। रागतत्त्व सम्बन्धी दयाका विचार पृथकरूपमें दूसरी जगह किया जायगा। केवल मनुष्य जातिके प्रति ही दया करनी चाहिये, पशुओंके प्रति निर्दयताका व्यवहार करना चाहिये—ऐसा सिद्धान्त अन्याय है। पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि मनुष्येतर प्राणियों पर भी दया करना कर्त्तव्य है। जिस किसीको दुःख हो, उसके निवारणके लिये प्रयत्न करना चाहिये तथा जिससे किसीको भी दुःख हो, ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये।

(८) वैराग्य – शम, दम, तितिक्षा और उपरति द्वारा विषयासक्ति दूर होनेपर वैराग्य दमनका नाम शम है। बाहरी इन्द्रियोंके दमनका नाम दम है। कुवासना-कष्ट सह्य करनेके अभ्यासको तितिक्षा कहते हैं। साधारण विषय-पिपासाको परित्याग करनेको उपरति कहते हैं। वैराग्य पुण्यजनक कार्य है। वैराग्य रहनेसे पाप नहीं होता। विधिपूर्वक क्रमशः वैराग्य धर्मका अभ्यास करना चाहिये।

राग मार्गमें सहज ही वैराग्य उपस्थित हो जाता है। उसके लिये पृथक चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इस विषयमें अन्यत्र विचार किया जायगा। वैराग्यका अभ्यास करना पुण्य-कर्म है। चातुर्मास्य, दर्श (अमावस्याके दिन होनेवाला एक यज्ञ), पौर्णमासी आदि शारीरिक व्रतोंका पालन करनेसे वैराग्यका अभ्यास होता है। सबसे पहले भोजन और शयन सम्बन्धी सुखकी कामनाओंका क्रमशः त्याग करके अन्तमें समस्त प्रकारके सुखाभिलाषको छोड़कर केवलमात्र जीवन-धारणके उपयोगी कमसे-कम विषयोंको ग्रहण करनेका अभ्यास जब पूर्ण हो जाता है, तब वैराग्य अभ्यस्त हो जाता है। वैराग्यका अभ्यास हो चुकनेपर चतुर्थाश्रमरूप संन्यासमें अधिकार उत्पन्न होता है।

(९) सत्शास्त्रोंका आदर—सत् शास्त्रोंका आदर करना सबका कर्त्तव्य है । सत्असत्का विवेचन पूर्वक लोकसमाजके कल्याणके लिये जो लिपिबद्ध होता है, उसे शास्त्र कह सकते हैं । जिन लोगोंने सुयोग्यता अर्जन करके शास्त्र-रचना की हैं, उनके रचित शास्त्र सुशास्त्र हैं । जो योग्य नहीं हैं, फिर भी विधि-निषेधकी व्यवस्थाएँ दी हैं अथवा परमार्थ का विचार करनेमें तत्पर होकर शास्त्र लिखे हैं, वे असत् परामर्श देकर असत् शास्त्र प्रकाशित किये हैं। जिन शास्त्रोंमें अयुक्तिसंगत और नास्तिक मत देखा जाय, वे शास्त्र असत् तर्क मूलक हैं । उनका सम्मान करना उचित नहीं है । कोई एक अन्धा दूसरे अन्धेका मार्ग प्रदर्शन करे, तो दोनों ही अन्धे जैसे गड्ढेमें या कुएँमें गिर पड़ते हैं, उसी तरह असत् शास्त्रोंके प्रणेतागण और उनके अनुयायी दोनों ही कुमार्गी एवं शोचनीय हैं। सत् शास्त्रसे वेद और वेदानुगत शास्त्रोंको समझना चाहिये । शास्त्रोंका स्वयं स्वाध्याय करना तथा दूसरोंको भी उसकी शिक्षा देना पुण्य कर्म है ।

(१०) तीर्थ-भ्रमण—तीर्थ-भ्रमणसे अनेक विषयों का ज्ञान होता है तथा अनेक कुसंस्कार दूर हो जाते हैं ।

(११) सद्विचार—सद्विचार या विवेकके लिये सर्वदा चेष्टा करनी चाहिये । जगत् क्या है ? मैं कौन हूँ ? जगत्की सृष्टि किसने की है ? हमारा कर्त्तव्य क्या है ? उस कर्त्तव्यका पालन करनेसे हमे क्या लाभ होगा ?—इस प्रकारका विवेक जिसे नहीं है, उसे मनुष्य नहीं कहा जा सकता है । पशु और मनुष्यमें केवल मात्र यही भेद है कि पशु सद्विचार शून्य होते हैं,परन्तु मनुष्य सद्विचार करनेमें समर्थ है । सद्विचारका फल है—आत्म-बोध ।

(१२) शिष्टाचार—शिष्टाचार पुण्यजनक कार्य है । पूर्व-पूर्वके संत-महात्माओंने जिन आचरणोंका स्वयं पालन किया है और दूसरोंको पालन करनेका उपदेश किया है, वे सब शिष्टाचार हैं*। समय-समय पर शिष्टाचारमें संशोधन, परिवर्द्धन और परिवर्तन भी होता है । जैसे, सत्य, त्रेता और द्वापर युगमें शिष्ट लोगों द्वारा यज्ञादिके समय गोवधादि कार्य परिलक्षित होते थे, कलियुगमें उनका विधान नहीं है । सद्विचार द्वारा पूर्व कालकी विधियों एवं आचारों की भलीभाँति परीक्षा करके उनको शिष्टाचारके रूप में ग्रहण करना तव्य है ।

(१३) पात्रके भेदसे मर्यादा—पात्रके तारतम्यानुसार लोगोंको सम्मान करना एक प्रधान शिष्टाचार है । इसको हम मर्यादा कह सकते हैं ? मर्यादा-भंग करनेसे महदतिक्रमका दोष लगता है । निम्नलिखित क्रमानुसार मर्यादा करनी चाहिए । जैसे, साधारणतः सब लोग मनुष्य मात्रकी मर्यादा करेंगे । उसमें भी सभ्य, विद्वान एवं सद्गुणसम्पन्न मनुष्योंकी मर्यादा अधिक रूपमें करनी चाहिए । इस प्रकार

*तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्व दर्शितान् । अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा ॥
तानानादृत्य योऽविद्वानर्थमारभते स्वयम् । तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः ॥
(भा० ४।१८।४-५)

क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सर्वश्रेष्ठ मर्यादा भगवद्भक्तोंकी करनी चाहिए। इस विधिके अनुसार ब्राह्मणों एवं वैष्णवोंकी मर्यादा सर्वत्र ही परिलक्षित होती है—

(१) साधारण रूपसे मनुष्यमात्रकी मर्यादा।
(२) सभ्यता की मर्यादा। इसके अन्तर्गत राज-मर्यादा भी है।
(३) पद-मर्यादा।
(४) विद्या-मर्यादा।
(५) सद्गुण मर्यादा। इसके अन्तर्गत ब्राह्मण, संन्यासी और वैष्णव मर्यादा है।
(६) वर्ण-मर्यादा।
(७) आश्रम मर्यादा और
(८) भक्ति-मर्यादा।

पद-मर्यादासे राजा आदिका सम्मान, विद्या-मर्यादासे विद्वानोंका सम्मान, वर्णमर्यादासे ब्राह्मण का सम्मान, आश्रममर्यादासे संन्यासीका सम्मान और भक्तिमर्यादासे यथार्थ भगवद्भक्तोंका सम्मान समझना चाहिए।

(१३) इज्या—इज्याका अर्थ है—भगवान्‌की पूजा। भगवान्‌की पूजा सबके लिये पुण्यजनक कर्म है। समस्त प्रकारकी विधियोंमें इज्याको सर्वश्रेष्ठ विधि जानना चाहिए।

(१४) अधिकार निष्ठा—अधिकार भेदसे इज्या का भी आकार भेद है। सत्कर्मको पुण्य तथा असत्कर्मको पाप कहते हैं। जो कुछ किया जाता है, उसे शास्त्रोंमें तीन भागोंमें विभक्त किया गया है—कर्म, अकर्म और विकर्म। पुण्यजनक कर्मोंको कर्म कहते हैं। जिसे न करनेसे दोष लगता है, उसे न करनेको अकर्म कहते हैं। तथा पापका नाम विकर्म है। पुनः कर्म तीन प्रकारके हैं—नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म। काम्य कर्म त्याज्य हैं। आदि पितृतर्पण* कार्य नैमित्तिक कर्म हैं। ईश्वर उपासना नित्यकर्म है। नित्य और नैमित्तिक कर्म ही पालनीय हैं।

तृतीय धारा

कर्माधिकार और वर्णविचार

अधिकार-निर्णय एक प्रधान न्यायाचरण है। योग्यताका नाम अधिकार है। योग्यता दो प्रकारकी होती है—(१) किस कर्ममें कतनी योग्यता चाहिए और (२) उस कर्ममें उसकी कितनी योग्यता है? सब लोग सभी पुण्यकर्मोंको करनेके लिये योग्य नहीं होते। कोई व्यक्ति किसी एक पुण्यकार्यको करनेमें योग्य होता है तो दूसरा दूसरे पुण्य कार्यके योग्य होता है। यदि पहले व्यक्तिको उसकी योग्यताके प्रतिकूल दूसरे पुण्य कर्ममें लगा दिया जाय तो वह उसे सुचारु ढङ्गसे पूर्ण करनेमें असफल रहता है। अतएव योग्यता स्थिर किये बिना यदि कोई व्यक्ति किसी कर्मको करता है, तब वह कर्म पूरा होगा या नहीं,

* इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं मद्व्रतं तपः। (भा० ११।१९।२३)

अथवा उस कर्मका अभिलषित फल होगा या नहीं—यह ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता है। इसलिये सबसे पहले अधिकारका निर्णय होना आवश्यक है। कार्यकर्त्ता स्वयं अपना अधिकार निर्णय नहीं कर सकता है। इसलिये उसे उपयुक्त गुरुसे सबसे पहले अपने अधिकारके सम्बन्धमें जिज्ञासा करनी चाहिए। उपदिष्ट कर्मको करनेके समय पुरोहितसे विधि या प्रक्रिया समझ लेनी चाहिए। इसीलिये लोग उपयुक्त गुरु और पुरोहित वरण करते हैं। आजकल जिस पद्धतिसे गुरु और पुरोहित वरण किये जाते हैं—वह शास्त्रानुमोदित नहीं है। नाममात्रके लिये गुरु और नाममात्रके लिये पुरोहित वरण करना निरर्थक है। ग्रामके किसी विशेष योग्य व्यक्तिको ही वरण करना चाहिए। यदि अपने ग्राममें कोई ऐसा योग्य व्यक्ति न मिले तो दूसरे ग्राममें भी ढूढ़ कर योग्य व्यक्तिको ही वरण करना चाहिए। कर्मकी योग्यता कैसी होती है, इसको उदाहरणके द्वारा शिक्षा देनी चाहिए, अन्यथा वह बोधगम्य नहीं होगी। तालाब या पुष्करिणी खोदना-खुदवाना एक पुण्यजनक कार्य है। यदि कोई व्यक्ति स्वयं खोदना चाहता है, तो उसके पास उपयुक्त रूपमें शरीर बल, अस्त्रादि, भूमि और लोक-बल आदिका रहना ही उसकी योग्यता या अधिकार है। यदि अर्थ-व्यय करके खुदवाना है तो अर्थ रहना चाहिए। जिस परिमाणमें शरीर-बल, अस्त्रादि भूमि और लोकबल अथवा अर्थ उसके पास है, उसी परिमाणमें उसका उस कर्ममें अधिकार है। अनाधिकारी व्यक्तिको कोई फल नहीं मिलता है, उल्टे कर्म करनेसे भी प्रत्यवाय* होता है। विवाह कार्यमें शरीरकी योग्यता, संसार-निर्वाहका सामर्थ्य और दाम्पत्य धर्म निर्वाहोपयोगी मानस संस्कार इत्यादि योग्यताकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कोई भी कार्य करने पहले योग्यता या अधिकार निर्णय कर लेना चाहिए।

स्वभाव-निर्णय

अधिकार दो प्रकारके होते हैं—(१) स्वभावगत अधिकार और (२) अवस्थागत अधिकार। मनुष्य जीवनको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—शिक्षाकाल, कार्यकाल और विश्रामकाल। जब तक मनुष्य विद्योपार्जन करता है, तब तकका समय शिक्षा-काल है। इस समय ग्रन्थ अध्ययन, संग और दूसरों के कर्म आदिको देखकर तथा उपदेश ग्रहण करके जो प्रवृत्ति जिस व्यक्तिमें प्रबल हो उठती है, उसी प्रवृत्ति को उस व्यक्तिका स्वभाव कहते हैं। जिस वंशमें जन्म होता है, उसी वंशके अनुसार ही साधारणतः अलोचना, सङ्ग और उपदेश प्राप्त होनेके कारण विभिन्न लोगोंका स्वभाव विभिन्न प्रकारका देखा जाता है। कभी-कभी इसके विपरीत भी देखा जाता है। ऐसी दशामें शिक्षाकाल समाप्त होने पर कार्य-कालके प्रारम्भमें जिस व्यक्तिमें जो स्वभाव लक्षित होता है, वही उसका स्वभाव है। विज्ञानके आधार पर विषयोंका विभाग करनेवाले चिन्ताशील पुरुषोंने चार प्रकारके स्वभाव बतलाये हैं—(१) ब्रह्म-स्वभाव,

* कर्म न करने पर जो पाप लगता है, उसे प्रत्यवाय कहते हैं।

(२) क्षत्र-स्वभाव, (३) वैश्य-स्वभाव और (४) शूद्र-स्वभाव ।*

(१) ब्रह्म स्वभाव—जिस स्वभावसे अन्तरेन्द्रियों के निग्रह, बाह्येन्द्रियोंके दमन, सहिष्णुता, शुद्धाचार, क्षमा, सरलता, ज्ञानकी आलोचना और ईश्वर-आराधना आदि विषयोंमें प्रवृत्ति पैदा होती है, उस स्वभावको ब्रह्मस्वभाव कहा गया है ।

(२) क्षत्रस्वभावसे—जिस स्वभाव वीरता, तेज, धारणाशक्ति, दक्षता, युद्धमें निर्भयता, दान, जगत रक्षा, जगत्शासन और ईश्वर पूजन आदि की ओर प्रवृत्ति हो उसे क्षत्र स्वभाव कहा जाता है ।

(३) वैश्य स्वभाव—जिस स्वभावसे कृषिकार्य पशुपालन तथा वाणिज्य-व्यवसाय आदिमें प्रवृत्ति उदित होती है, उस स्वभावको वैश्य-स्वभाव कहते हैं ।

(४) शूद्र स्वभाव—जिस स्वभावसे केवल दूसरों की सेवा द्वारा जीविकानिर्वाहकी प्रवृत्ति उदित होती है, उसे शूद्र स्वभाव कहते हैं ।

(५) अन्त्यज स्वभाव—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके विचारसे रहित, न्यायाचरणसे विरत, सर्वदा कलह प्रिय, अतिशय स्वार्थ पर, उदर-सर्वस्व, विवाह-विधि-रहित व्यक्तियोंका स्वभाव ही अन्त्यज है। ऐसे स्वभावका परित्याग किये बिना मनुष्य स्वभाव नहीं होता । इसलिये मनुष्य-स्वभाव केवल चार प्रकारके ही माने गये हैं ।

स्वभावके अनुसार वर्ण-निरूपण

स्वभावके अनुसार ही प्रवृत्ति या गुण होता है । इसलिये स्वभावके अनुसार ही कर्म करना चाहिए । स्वभावके विरुद्ध कर्म करनेसे वह कर्म फल प्रद नहीं होता । स्वभावके किसी अंशको ही अंग्रेजी भाषामें जिनियस (Genious) कहते हैं परिपक्व स्वभावको बदल देना करना सहज नहीं होता । इस-लिये स्वभावके अनुसार ही कर्म करते हुए जीविका-निर्वाह और परमार्थके लिये चेष्टा करनी चाहिए । भारतवर्षके मनुष्य चार प्रकारके स्वभावके भेदसे चार वर्णोंमें विभक्त हैं। वर्णविभागकी विधियोंका पालन करते हुए समाजमें स्थित होने पर सब प्रकार की सामाजिक क्रियाएँ स्वाभाविक रूपसे ही फलवती हो जाती हैं तथा जगतका सुष्ठुरूपेण कल्याण होता है । जिस समाजमें वर्णविभागविधि प्रचलित है, है, उस समाजकी भित्ति ठोस विज्ञान पर आधारित है तथा वह समाज मानव जातिके लिये पूजनीय है ।

कुछ लोग ऐसा संदेह कर सकते हैं कि यूरोप और अमेरिकामें कहीं भीवर्णविभाग आदि विधियाँ प्रचलित नहीं हैं, फिर भी वहाँके लोग अर्थ एवं विज्ञान आदि सभी विषयोंमें सर्वश्रेष्ठ एवं पूजनीय

* शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् । मद्भक्तिश्च दयासत्यं ब्रह्म प्रकृतयोस्त्विमाः ॥
तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः । स्थैर्यं ब्रह्मण्यमैश्वर्यं क्षत्र प्रकृतयस्त्विमाः ॥
आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदंभो ब्रह्मसेवनम् । अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्य प्रकृतयस्त्विमाः ॥
शुश्रूषणं द्विजगवां देवानाञ्चाप्यमायया । तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्र प्रकृतयस्त्विमाः ॥ (भा० ११।१७।१६-१८)
अहिंसा सत्यमस्तेय काम क्रोधमलोभता । भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥ (भा० ११।१७।२१)

हैं; अतएव वर्ण-विधिको स्वीकार करना व्यर्थ है। परन्तु ऐसा सन्देह निरर्थक है; क्योंकि युरोपीय जातियाँ अत्यन्त नवीन और आधुनिक हैं। आधुनिक जातियोंके लोग प्रायः अधिक बलवान् और साहसी होते हैं। वे उस साहस और बलसे प्राचीन जातियोंके संग्रहीत विद्या, विज्ञान और कला-कौशल से कुछ-कुछ ग्रहण करके जगतमें एक प्रकारका कार्य कर रहे हैं। क्रमशः कुछ दिन बीतने पर ये नयी जातियाँ ठोस विज्ञानके आधार पर प्रतिष्ठित समाज व्यवस्थाके अभावमें सर्वथा लुप्त हो जायेंगी। भारतीय आर्य जातिमें वर्ण-व्यवस्था विद्यमान रहनेसे ही इस वार्द्धक्य एवं जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें भी उसमें जाति लक्षण प्रकाशित हो रहे हैं। किसी समय रोम और ग्रीक जातियाँ इन आधुनिक युरोपीय जातियोंसे भी बल और वीर्यमें कहीं अधिक बढ़-चढ़ी हुई थीं। परन्तु आज उनकी क्या दशा है? आज वे अपने जाति-लक्षणसे रहित होकर अन्यान्य आधुनिक जातियोंके धर्म और लक्षणको ग्रहण करके अपनी पूर्वावस्थासे सर्वथा भिन्न रूपमें बदल गयी हैं। यहाँ तक कि उन जातियोंके वर्तमान लोग अपने वीर पूर्व पुरुषोंकी वीरता आदि पर गर्व तक नहीं करते। यद्यपि हमारे देशकी आर्य-जाति रोम और ग्रीक जातियोंसे न जाने कितनी अधिक प्राचीन है, तथापि इस आर्य जातिके लोग आज भी अपनी जातिके पूर्व-पूर्व शूर-वीर पुरुषोंके ऊपर गर्व करते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि केवल वर्णाश्रम-व्यवस्था मजबूत रहनेके कारण उनका जाति लक्षण दूर नहीं हो पाया है। म्लेच्छों द्वारा पराजित राणाओंके वंशज आज भी अपनेको श्रीरामचन्द्रजीका वीर-वशंज मानते हैं। जातिकी वार्द्धक्य दशासे भारतवासी जितने भी पतित क्यों न हों, जबतक उनमें वर्ण-व्यवस्था प्रचलित रहेगी, तबतक वे आर्य ही रहेंगे, वे कदापि अनार्य नहीं हो सकेंगे। रोमन आदि युरोपीय आर्य वंशीय लोग हान और भाण्डाल आदि अन्त्यज जातियोंके लोगों के साथ मिल-जुल कर एक हो गये हैं। युरोपीय जातियोंके वर्त्तमान समाजका अध्ययन करने पर हम देख पायेंगे कि उस समाजमें जो कुछ सौन्दर्य है, वह केवल मात्र कुछ-कुछ स्वभावजनित वर्णधर्म को धारण करनेसे ही है। युरोपमें जो व्यक्ति वणिक-स्वभावके हैं, वे वाणिज्य-व्यवसायको ही अच्छा मानते हैं और उसीके द्वारा उन्नति साधन कर रहे हैं। जो व्यक्ति क्षात्र-स्वभावके हैं, वे मिलिटरी लाइनको ही अपनाते हैं। तथा शूद्रस्वभाववाले व्यक्ति साधारणतः सेवा-कार्यको ही अच्छा मानते और अपनाते हैं। वास्तवमें कुछ न कुछ अंशोंमें वर्ण-धर्मको अपनाये बिना कोई भी समाज टिक नहीं सकता है। विवाह आदि क्रियाओंमें भी वर्णोपयोगी ऊँच-नीच अवस्था और स्वभावकी परीक्षा की जाती है। युरोप आदिमें वर्ण-धर्म आंशिकरूपमें गृहीत होने पर भी वह वैज्ञानिक भित्तिके ऊपर प्रतिष्ठित सम्पूर्ण आकारको प्राप्त नहीं है। वहाँ पर सभ्यता और ज्ञानकी जितनी ही उन्नति होगी, वर्ण-धर्म भी पूर्णताकी ओर अग्रसर होगा ही। सभी क्रियाओंमें दो प्रकारकी प्रणालियाँ कार्य करती हैं—अवैज्ञानिक प्रणाली और वैज्ञानिक प्रणाली। किसी भी कार्यमें जबतक वैज्ञानिक प्रणालीको अपनाया नहीं जाता, तबतक वहाँ पर अवैज्ञानिक

प्रणालीसे ही कार्य होता है। उदाहरणके लिये पहले जबतक वैज्ञानिक प्रणालीसे जलयान नहीं प्रस्तुत होते थे, तबतक अवैज्ञानिक नौकाओंके द्वारा ही जल-यात्राएँ हुआ करती थीं; परन्तु वैज्ञानिक जलयानोंके निर्माण होते ही अब जल - यात्राएँ इन वैज्ञानिक जल-यानों (जहाजों) के द्वारा होती हैं। समाज भी उसी प्रकार है अर्थात् जिस देशमें जब तक वर्ण-व्यवस्थाका सुचारू रूपसे प्रचलन नहीं हो जाता, तबतक एक अवैज्ञानिक प्रागवस्था ही उस देशके समाजकी परिचालना करती है। आजकल भारतवर्ष को छोड़कर संसारके सभी देशोंमें वर्ण-व्यवस्थाकी प्रागवस्था ही वहाँके समाजकी परिचालना करती है। इसीलिये भारतको कर्मक्षेत्र कहा गया है।

भारतमें वर्त्तमान वर्णाश्रम विधिकी अवस्था

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या आजकल भारतमें वर्ण-व्यवस्था ठीक-ठीक रूपमें चल रही है? इसका उत्तर होगा, नहीं। यह वर्णव्यवस्था भारतमें पूर्णावस्थामें प्रतिष्ठित होकर भी अन्तमें उसमें कुछ रोगोंके लग जानेके कारण ही भारतकी कुछ अवनति देखी जाती है। अब वह रोग क्या है ? यह विवेचना करनेकी आवश्यकता है।

त्रेतायुगके प्रारम्भमें आर्यजातिकी उन्नति चरमावस्थाको पहुँच चुकी थी। उसी समय वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी स्थापना हुई*। उस समय ऐसी विधि बनायी गयी कि हरेक व्यक्ति अपने स्वभावके अनुसार वर्णको प्राप्त करेगा और उसे उस वर्णके अनुसार अधिकार प्राप्त करके उस वर्णके लिये निर्दिष्ट किये गये कर्मको ही अपनाना होगा। श्रम-विभाग-विधि और स्वभाव-निरूपण-विधिद्वारा जगत्के कर्म बड़े ही सुचारु ढङ्गसे परिचालित होते थे। जिसके पिताका कोई वर्ण नहीं होता था, उसके केवल स्वभावको परख कर उपयुक्त वर्णमें उसे शामिल कर लिया जाता था। जाबाली और गौतम, जानश्रुति और चित्ररथ आदिका वैदिक इतिहास ही इसका साक्षी और उदाहरण है। जिनके पिताका वर्ण निर्दिष्ट था, उनके स्वभाव और वंश दोनोंके प्रति दृष्टि रख कर ही वर्णका निर्णय होता था। नरिष्यन्त वंशमें अग्निवेश्य स्वयं जातुकर्ण नामक महर्षि हुए हैं। उन्हींसे अग्निवेश्यायन नामक प्रसिद्ध ब्राह्मण-वंश की उत्पत्ति हुई है। ऐलवंशमें होत्रक पुत्र जह्नु ने ब्राह्मणत्व लाभ किया है। भरत वंशमें उत्पन्न भरद्वाज—जिनका नाम वितथ राजा था—के वंशमें नरादि के सन्तान क्षत्रिय और गर्गके सन्तान ब्राह्मण हुए। मर्यस्व राजाके वंशमें मौद्गल्य गोत्रीय शतानन्द और कृपाचार्य आदि ब्राह्मण उत्पन्न हुए। शास्त्रमें ऐसे-ऐसे असंख्य उदाहरण हैं, जिनमेंसे मैंने केवल दो-चारका ही उल्लेख किया। जिस समय वर्ण-

*आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः। कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः॥
वेद प्रणव एवाग्रे धर्मोऽयं वृषरूपधृक्। उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्त किल्बिषाः॥
त्रेतायुगे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी। विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः॥
विप्र-क्षत्रिय-विट-शूद्रा मुख बाहूरुपादजाः। वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचार लक्षणाः॥
(श्रीमद्भा० ११।१७।१०-१३)

व्यवस्था ऐसी सुन्दर और संस्कृत रूपमें प्रचलित थी, उस समय भारतका यशःसूर्य मध्याह्न रविकी भाँति पृथ्वीमें सर्वत्र ही अपनी प्रभाका विस्तार कर रहा था। संसारके सारे देश भारतवासियोंको राजा, दण्डदाता और गुरु मानकर पूजते थे। मिस्र और चीन आदि देशोंके लोग उस समय श्रद्धा एवं भयसे भारतवासियोंके उपदेश सुनते थे।

वर्ण-व्यभिचार

पूर्वोक्त वर्णाश्रम-धर्म भारतमें बहुत समय तक विशुद्धरूप रूपमें चलता रहा। पश्चात् काल क्रमसे क्षत्र-स्वभाव जमदग्नि और उनके पुत्र परशुराम अवैधरूपसे ब्राह्मणके अन्तर्गत स्वीकृत होनेपर उन्होंने स्वभाव विरुद्ध ब्रह्मणत्वका त्याग कर ब्राह्मण और क्षत्रियोंके बीच कलह पैदा कर शान्ति भङ्ग की थी। इस परस्परके कलहका दुष्परिणाम यह हुआ कि जन्मगत वर्ण-व्यवस्था क्रमशः जोर पकड़ती गयी। कुछ समयके बाद मनुस्मृति आदि शास्त्रोंमें भी इस अस्वाभाविक जन्म-प्रधान वर्ण व्यवस्थाका गुप्त रूपसे प्रवेश होने पर उच्चवर्ण प्राप्तिकी आशा से रहित होने पर क्षत्रियोंने विद्रोह किया। वे बौद्ध धर्मकी सृष्टि करके ब्राह्मण आदिका ध्वंश करने के लिये जी-जानसे तत्पर हो गये। जिस समय जो क्रिया या मत-मतान्तर प्रचलित या उत्पन्न होते हैं, उनकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही बलवती होती है। जब वेद विरोधी बौद्ध-धर्म ब्राह्मण आदिके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ, तब जन्मगत वर्ण-व्यवस्था सहज ही अधिकसे अधिकतर दृढ़ होती चली गयी। एक ओर कुव्यवस्था और दूसरी ओर स्वदेश-निष्ठा—इन दोनों भावोंने परस्पर विवदमान होकर क्रमशः भारतवासी आर्य सन्तानको नष्ट-प्राय कर दिया।

स्वभावहीनता ही वर्ण-विशृंखलनाका मूल कारण है

ब्रह्म-स्वभावविहीन नाम मात्रके लिये ब्राह्मणोंने स्वार्थपर धर्मशास्त्रोंकी रचना कर दूसरे वर्णोंको ठगना आरम्भ कर दिया। क्षत्र-स्वभाव विहीन क्षत्रियगण युद्धसे विमुख होकर राज्यसे च्युत होने लगे। अन्तमें तुच्छ और हेय बौद्ध धर्मका प्रचार करने लगे। वणिक् स्वभावरहित वैश्यगण जैनादि धर्मोंका प्रचार करने लगे। ऐसी दशामें भारतका संसार व्यापी व्यापार धीरे-धीरे नष्ट होने लगा शूद्र-स्वभावविहीन शूद्रगण अपने स्वभावानुकूल कार्य न पानेके कारण दस्युप्राय हो गये। इससे वेदादि सत्-शास्त्रोंकी चर्चा क्रमशः बंद हो गयी। म्लेच्छ देशोंके शासकोंने समय देखकर भारत पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकारमें दबोच लिया। समुद्र-पार-व्यवहार नष्ट हो गये। इस प्रकार कलिका अधि-

---

* गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि। तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता।
आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रम विडम्बनाः। देव माया विमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया॥
आत्मानञ्च द्विजनीयात् परं ज्ञानधृताशयः। किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः॥
(भा० ७।१५।३८-४०)

कार प्रगाढ़ हुआ*। हाय ! जो भारतीय आर्यजाति एक दिन पृथ्वीकी सारी जातियोंका शासक और गुरु थी; आज उसकी यह दुर्दशा ! इसका कारण इस जातिका वार्द्धक्य नहीं है, बल्कि वर्ण-व्यवस्था में नाना प्रकारके दोषोंके प्रवेश करनेके कारण उसका क्रमशः शिथिल होना ही है। जो सर्वजीवों एवं समस्त विधियोंके मूल नियन्ता हैं और जो सर्वप्रकार के अमङ्गलोंको दूर कर मङ्गल करनेमें समर्थ हैं, उन सर्वेश्वरेश्वर प्रभुकी इच्छा होनेपर ही कोई शक्त्याविष्ट पुरुष पुनः यथार्थ वर्णाश्रमधर्मकी प्रतिष्ठा करेंगे ! पुराणोंके रचयिता भी हमारी तरह आशा लगाये श्रीकल्किदेवके आविर्भावकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मरु और देवापि राजाके उपाख्यानमें ऐसी ही प्रतीक्षा दृष्टिगोचर होती है। अब प्रकृत विधिका विचार किया जाय।

वर्णके अनुसार कर्मव्यवस्था

किस वर्णका किस कर्ममें अधिकार है, उसका धर्मशास्त्रमें उल्लेख है। इस पुस्तकमें उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन करना असम्भव है। अतिथियोंको अन्नदान, पवित्रताके लिये दिनमें तीन बार स्नान, देवदेवियोंकी पूजा, वेदपाठ, उपदेश देना, पौरोहित्य करना, उपनयन आदि व्रत, ब्रह्मचर्य और संन्यास -इन कर्मोंमें केवल ब्राह्मणका अधिकार है। धर्मयुद्ध, राज्य शासन, प्रजारक्षण और बड़े-बड़े दान आदि कर्मोंमें क्षत्रियका अधिकार है। पशु पालन और रक्षण, कृषिकार्य और व्यापार आदि कर्मोंमें वैश्यों का अधिकार है। बिना मंत्र देव-सेवन और तीनों वर्णोंके विविध प्रकारके सेवा-कार्योंमें शूद्रका अधिकार है। विवाहादि व्रत, ईशभक्ति, परोपकार, साधारण दान, गुरु सेवा, अतिथि-सत्कार, पवित्रता, महोत्सव, गो-सेवा, जगत-वृद्धिकरण और न्याय आचरण आदि कर्मोंमें सभी वर्णोंके स्त्री-पुरुष सब का अधिकार है। पति सेवा-कार्यमें स्त्रियोंका विशेष अधिकार है। मूल-विधि यह है कि जिस व्यक्तिका जैसा स्वभाव है, उस स्वभावके उपयोगी कर्मोंमें ही उसका अधिकार है। सभी लोग सरल बुद्धिद्वारा अपने-अपने कर्माधिकारको स्थिर कर सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करनेमें असमर्थ हो तो वह उपयुक्त गुरुसे पूछकर अपना कर्माधिकार स्थिर करेगा। निर्गुण वैष्णवगण इस विषयमें अधिक जाननेकी इच्छा करने पर श्रीमद् गोपाल भट्ट गोस्वामीकृत "सत् क्रिया सार दीपिका" ग्रन्थका अध्ययन करेंगे।

—ॐविष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

———

प्रचार-प्रसंग

मेदिनीपुर जिलेके विभिन्न स्थानोंमें श्रील आचार्यदेव

कल्याणपुरमें—

मेदिनीपुर जिलेके अन्तर्गत कल्याणपुर ग्राममें श्रील गोस्वामी महाराज द्वारा प्रतिष्ठित श्रीमदनमोहन गौड़ीय मठके नवनिर्मित श्रीमन्दिरमें श्रीविग्रह-प्रवेश महोत्सवके उपलक्ष्यमें मन्दिर-प्रदाता श्रीरासविहारी भक्तिशास्त्री महोदयकी विशेष प्रार्थनासे श्रील आचार्यदेव मठस्थ कुछ संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों को साथ लेकर गत १ फाल्गुन, १३ फरवरीको कृपापूर्वक वहाँ पधारे । उनके वहाँ पधारने का समाचार पाकर उस अंचलके विभिन्न स्थानोंमें प्रचार कर रहे श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रचारकगण तथा गृहस्थ भक्तगण कल्याणपुरमें उपस्थित हुए । श्रीपाद गजेन्द्रमोक्षण प्रभुके वास भवनमें उन सबके ठहरनेकी व्यवस्था हुई । श्रीपाद गजेन्द्रमोक्षण प्रभु श्रील प्रभुपादके शिष्य एवं समितिके विशेष अनुगत सदस्य हैं ।

२ फाल्गुनको श्रील आचार्यदेवने श्रीमन्दिरका द्वारोद्घाटन किया । इसी दिन शामको एक विराट धर्मसभामें उन्होंने धर्मके सम्बन्धमें एक भाषण दिया । ३ फाल्गुनको धर्म सभामें महिषादल कॉलेजके प्रिन्सिपल, तमलुक महकुमाके कतिपय उच्चपदस्थ आफिसर आदि उपस्थित थे । इस दिन श्रील आचार्य देवने सभापतिके आसनसे एक सुगभीर दार्शनिक भाषण प्रदान किया, जिसे उपस्थित जन समूहने बड़े ही ध्यानपूर्वक श्रवण कर उल्लास प्रकट किया । प्रतिदिन लगभग २००० श्रोताओंने योगदान किया ।

जलपाइमें—

४ फाल्गुन, मङ्गलवारको सवेरे श्रील आचार्यदेव दलबलके साथ शावड़ाबेड़े जलपाइ-ग्राममें हरेकृष्ण भक्त और निमाई भक्तके घर पर पधारे तथा शाम को उसी ग्राममें एक बृहत् धर्म-सभामें उनका भाषण हुआ ।

खामटी ग्राममें श्रीव्यासपूजा—

तदनन्तर ५ फाल्गुनको श्रील आचार्यदेव सबके साथ जलपाईसे खामटी ग्राममें समितिके शिष्य श्रीयुक्त राजेन्द्रनाथ जाना महोदयके घर पधारे । दूसरे दिन ६ फाल्गुनको श्रीलआचार्यदेवकी शुभ-अविर्भाव तिथि—माघी कृष्ण-तृतीयाके उपलक्ष्यमें श्रीश्रीव्यासपूजाका विराट अनुष्ठान सम्पन्न हुआ । इसमें श्रील सरस्वती गोस्वामी द्वारा संग्रहीत श्री-व्यास पूजा-पद्धतिके अनुसार श्रीव्यास पंचक, श्रीवैयासकी आचार्य-पंचक, श्रीगुरु-पंचक, श्रीकृष्ण पंचक, श्रीसनकादि-पंचक तथा तत्त्व-पंचक आदिके यथा-विधि पूजनके पश्चात् श्रील आचार्यदेवके श्री-चरणकमलोंमें अञ्जलि प्रदान की गयी । तत्पश्चात् श्रीराजेनबाबूने उपस्थित लगभग २००० दर्शकोंको महाप्रसाद वितरण करनेकी व्यवस्था की । इस व्यासपूजा अनुष्ठानका दर्शन करनेके लिये दूर-दूरके ग्रामोंके सभी श्रेणीके लोग बड़ी संख्यामें उपस्थित हुए थे । (क्रमशः)

—निजस्व संवाद दाता

श्रीश्रीनवद्वीप-धाम-परिक्रमा और श्रीश्रीगौर-जन्मोत्सव

पिछले वर्षोंकी भाँति इस वर्ष भी श्रीगौड़ीय, वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता एवं नियामक परमहंस स्वामी १०८ श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी नियामकतामें २८ फाल्गुन, १२ मार्चसे लेकर ४ चैत्र, १८ मार्च तक श्रीश्रीनवद्वीप धाम-परिक्रमा और श्रीश्रीगौर-जन्मोत्सव विराट समारोह के साथ सुसम्पन्न हुआ है। श्रीसमितिके प्रचार-वैशिष्ट्यके कारण प्रतिवर्ष क्रमशः यात्रियोंकी संख्या अकल्पनीय रूपसे बढ़ती जा रही है। इस वर्ष यात्रियों की संख्या लगभग ५००० की थी। मठ सीमाके भीतर और बाहरमें यात्रि-निवास की प्रचुर व्यवस्था की गयी थी, फिर भी कहीं भी तिल रखनेकी जगह रिक्त नहीं थी। लोग पेड़ोंके नीचे, बारामदोंमें, खुली जगहोंमें सर्वत्र ही भरे पड़े थे। परन्तु व्यवस्थापकोंकी सुन्दर एवं चमत्कार कारिणी सुव्यवस्थाके कारण किसीको किसी भी प्रकारकी कठिनाई नहीं हुई। जल, प्रकाश, सफाई, चिकित्सा आदिकी पूरी व्यवस्था की गयी थी। परिक्रमाका सबसे बड़ा वैशिष्ट्य तो यह था कि रातमें तीन या चार घन्टेकी निद्राको छोड़ कर वहाँका वातावरण सबदा ही हरि-कथासे परिव्याप्त रहता था।

इसमें भारतके विभिन्न स्थानोंसे त्रिदण्डि-पादगण, ब्रह्मचारी तथा यात्री आये थे। त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज श्रीमद्-भक्तिवेदान्त वामन महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त हरिजन महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त विष्णु दैवत महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त उर्द्धमन्थी महाराज, श्रीमद्भक्ति वेदान्त राद्धान्ती महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त परिव्राजक महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त शुद्धाद्वैती महाराज, श्रीमद्भक्ति वारिधिपुरी महाराज तथा श्री-मद्भक्ति जीवन जनार्दन महाराज एवं सर्वोपरि श्रील आचार्यदेवने अपने सदुपदेशों, सरस एवं सजीव भाषणोंसे शुद्ध भक्तिरसकी मन्दाकिनी प्रवाहित कर उसमें उपस्थित श्रोतृमण्डलीको निमज्जित कर नव-जीवनका संचार कर दिया। श्रीपाद मोहिनी-मोहन "रागभूषण, भक्तिशास्त्री महोदयका मधुर-कीर्तन श्रोतृमण्डलीके हृदयको द्रवितकर नेत्रोंके द्वारसे उसे बहिर्गत कर एक परम चमत्कापूर्ण वातावरणका सृजन करता था।

अहा! श्रीश्रीगौराङ्ग-राधाविनोद विहराजीकी अद्भुत सुन्दर झाँकी भला किसके मनको नहीं मोह लेती? उनकी दाहिनी ओर श्रीधामेश्वर श्रीकोल देव और बायीं ओर जगद्गुरु श्रीलसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर अपने श्रीपदनखकी कोटि चन्द्र सुशीतल प्रभासे सबके त्रिविध तापोंको दूर कर श्रीश्रीगौराङ्ग-राधाविनोद विहारीकी सरस-शीतल भक्ति-रस प्रदान कर रहे थे। लोग मुग्ध होकर एकटकसे दर्शन करते अघाते न थे, हटाने पर भी हटते न थे। सात दिन मानों सात क्षणोंमें ही बीत गया।

इस वर्ष ३-४ दिन पहलेसे ही यात्रियोंका समागम होना आरम्भ हो गया था। २७ फाल्गुनको धाम-परिक्रमाके अधिवासके दिन श्रीपरिक्रमाका संकल्प ग्रहण किया गया। अधिवास कीर्तनके पश्चात श्रीश्रील आचार्यदेवने अपने भाषणके माध्यमसे श्रीधाम परिक्रमाकी विधि एवं वैशिष्ट्यको प्रकाश किया। प्रतिदिन सन्ध्यारतीके पश्चात् उनके सभापतित्वमें कीर्तन, प्रवचन एवं भाषणकी व्यवस्था होती थी।

धाम-परिक्रमाके पहले दिन २८ फाल्गुनको प्रातः काल श्रीमन्महाप्रभुके श्रीविजय-विग्रह रत्नमण्डित पालकी पर पधराये जानेपर परिक्रमा संघ श्रीश्री-आचार्यदेवका कृपाशिर्वाद ग्रहणकर संन्यासीवृन्दकी संचालकतामें देवपल्लीके लिये रवाना हुआ। पालकी के अगल-बगलमें संन्यासी एवं ब्रह्मचारीगण चँवर, पंखा और छत्र धारण कर चल रहे थे। पालकीके पीछे संन्यासियोंकी पंक्तियाँ अतीव मनोरम लगती थी। उनके पीछे संकीर्तनमण्डली एवं नर-नारियोंका लहराता हुआ विराट समुदाय। रंग-बिरंगी ध्वजा-पताकाएँ सर्वत्र ही शोभित हो रही थीं। मृदंगोंकी मिलित ध्वनि मेघ-गर्जनको भी पराभूत कर गौरजनों के हृदयमें अनिर्वचनीय आनन्दका सृजन कर रही थी। वाद्य-आदिसे मिलित संकीर्तन ध्वनिसे दिग दिगन्त मुखरित हो उठता।

इस प्रकार परिक्रमा संघ श्रीश्रीबंशीदास बाबाजी महाराजके समाधि - मन्दिर तथा भजन - स्थलीका दर्शन कर, सुरसरिको पार कर सुरभिकुञ्ज, स्वानन्द सुखदकुञ्ज, सुवर्णविहारका दर्शन कर दोपहरमें श्रीनृसिंह देवपल्ली पहुँचा। वहाँ दोपहरमें श्रीनृसिंह देवका प्रसाद सेवाकर हरिहरक्षेत्र, श्रीब्राह्मण पुष्कर, हंसवाहन, सप्तर्षिटीला और नैमिषारण्यका दर्शन कर पुनः श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठमें लौट आया।

दूसरे दिन २९ फाल्गुनको ऋतुद्वीपमें समुद्रगढ़ और चम्पकहट्टकी, तीसरे दिन जह्नुद्वीप, विद्यानगर, तथा मोदद्रुमद्वीप, चौथेदिन कुलिया पहाड़, प्रौढ़ा-माया, श्रीजगन्नाथदास बाबाजीकी समाधि और रुद्रद्वीपकी परिक्रमा की गयी।

पाँचवे दिन २ चैत्रको श्रीचैतन्यमहाप्रभु की जन्मभूमि श्रीधाम मायापुरकी परिक्रमा हुई। उस दिन शोभायात्राने विशाल रूप धारण किया। पुण्य-तोया भगवती भागीरथीको पार करने पर घाटसे लेकर श्रीश्रीजगन्नाथ भवन—महायोगपीठ तक सारा मार्ग अपार जनसमूहसे आच्छादित हो गया। योग-पीठ—आविर्भाव - स्थलीकी परिक्रमा एवं उद्दण्ड नृत्य गीतके पश्चात् श्रीश्रीआचार्यदेवने एक बड़ा ही मर्मस्पर्शी भाषण दिया। तदनन्तर परिक्रमा संघ श्रीवास - अंगन, श्रीअद्वैत-भवनकी परिक्रमा और दर्शन करके जगद्गुरु श्रीश्रीसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर "श्रील प्रभुपाद" की समाधिमें उपस्थित हुआ। यहाँ पर श्रील आचार्यदेवने बड़े ही विगलित एवं रुँधे कंठसे श्रील प्रभुपादकी अतिमर्त्य कृपाके सम्बन्धमें बोलते-बोलते स्वयं रोने लगे। उनका अद्भुत गम्भीर स्वभाव आज कोमल शिशु सा हो गया। नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होकर वक्षःस्थलको भिगोने लगी। गला रुद्ध हो आया और वे बोल न सके। सभी श्रोतागण विरह रसमें निमज्जित होकर रोते - रोते बेहाल हो गये। तदनन्तर श्रीलप्रभुपादकी समाधि मन्दिरकी परिक्रमा कर श्रीचैतन्य मठ, श्रील गौर-किशोरदास बाबाजीकी समाधि तथा श्रीचाँदकाजी की समाधिका दर्शन कर परिक्रमा पार्टी श्रीजयदेव गोस्वामीके भजन-पाटमें उपस्थित हुई। वहीं मध्याह्न की प्रसाद सेवाकर शामको श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठ, नवद्वीपमें लौट आयी। श्रीजयदेव - गोस्वामीके भजन-पाटमें श्रील आचार्यदेवका आगमन सुनकर महाप्रसाद सेवनके लिये दूर - दूरके गाँवोंसे लोगोंकी विराट भीड़ उमड़ पड़ी। वहाँ पर लगभग पन्द्रह हजार श्रद्धालु लोगोंने महाप्रसाद-सेवन किया।

श्रीश्रीगौर-जन्मोत्सव

३ फाल्गुनको श्रीचैतन्य महाप्रभुकी आविर्भाव तिथिके दिन मङ्गलारति कीर्तनके पश्चात् सूर्योदयसे आरम्भ कर आविर्भाव-काल संध्यातक "श्रीचैतन्य-भागवत" का पारायण हुआ । तदनन्तर श्रीचैतन्य चरितामृतसे श्रीगौराविर्भाव प्रसंगका सुललित-स्वरसे वाद्यादिके साथ कीर्तन होने पर विराट रूपसे अर्चन - पूजन और भोगरागकी व्यवस्था होने लगी । तत्पश्चात् सन्ध्यारति और तुलसी परिक्रमाके पश्चात् श्रील आचार्यदेवके सभापतित्वमें एक विराट धर्मसभा का आयोजन हुआ, जिसमें विभिन्न वक्ताओं ने श्रीमन्महाप्रभुकी अप्राकृत लीला एवं शिक्षाके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला ।

दूसरे दिन साधारण महोत्सव हुआ । सबेरे ६ बजे से लेकर रातके १० बजे तक कई हजार लोगों को विचित्र प्रसाद वितरण किया गया ।

त्रिदण्ड-संन्यास

पाठकोंके निकट यह संवाद देनेमें हमें बड़ा हर्ष हो रहा है कि गत ३ फाल्गुन श्रीश्रीगौराविर्भावके दिन समितिके प्रतिष्ठाता एवं आचार्य ॐविष्णुपाद १०८ श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज के निकट समितिके एकनिष्ठ सेवक—(१) श्रीहरिदास ब्रजवासी "सेवा-कौस्तुभ", (२) श्रीचिद्घनानन्द ब्रह्मचारी, (३) श्रीरसिकमोहनदास ब्रजवासी, (४) श्रीरोहिणीनन्दनदास ब्रजवासी और (५) श्री-ब्रजेश्वरीप्रसाद ब्रजवासीने तन, मन और वचनको भगवान्की सेवामें सर्वतोभावेन नियुक्त करनेकी प्रतिज्ञा कर त्रिदण्डि-यतिका वेश ग्रहण किया है । इनके संन्यासका नाम क्रमशः (१) त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त भिक्षु महाराज, (२) त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त पर्यटक महाराज, (३) त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त त्रिदण्डि महाराज, (४) त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त परमाद्वैती महाराज और (५) त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त दण्डी महाराज हुआ है । इनका भक्तिपूर्ण जीवन चरित्र अगली संख्याओंमें प्रकाशित किया जायगा ।

—निजस्व संवाद दाता

श्रीभागवत-पत्रिकाके सम्बन्धमें विवरण

(१) प्रकाशनका स्थान— श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा ।

(२) प्रकाशनकी अवधि—मासिक ।

(३) मुद्रकका नामक—श्रीहेमेन्द्रकुमार ।
राष्ट्रगत सम्बन्ध—हिन्दू (भारतीय) ।
पता—साधन प्रेस, डैम्पियर नगर, मथुरा ।

(४) प्रकाशकका नाम—श्रीकुञ्जविहारी ब्रह्मचारी ।
राष्ट्रगत सम्बन्ध—हिन्दू (गौड़ीय वैष्णव) ।
पता—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा ।

(५) सम्पादकका नाम— त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्-भक्ति वेदान्त नारायण महाराज ।
राष्ट्रगत-सम्बन्ध—हिन्दू (गौड़ीय वैष्णव)
पता—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ ।

(६) पत्रिकाका स्वत्वाधिकारी—श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके तरफसे उसके प्रतिष्ठाता और नियामक परमहंस स्वामी श्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव महाराज । समिति अनरेजिस्टर्ड ।

मैं कुञ्जविहारी ब्रह्मचारी, इसके द्वारा घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारीमें और विश्वास के अनुसार सत्य हैं ।

१५ अप्रैल, १९६५

—कुञ्जविहारी ब्रह्मचारी